UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादकीय परामर्श मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 10 अङ्क 2

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, **2021**

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Advisory Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Editor

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 10 अङ्क 2

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February, 2021

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	

शोधलेख

1.	गर्भकाल में ईश्वर-जीव सम्बन्ध का वैज्ञानिक स्वरूप	आचार्य गुलाब कोठारी	1–4
2.	श्रीविद्या के संदर्भ में श्रीसूक्त का विवेचन	डॉ. आदित्य आंगिरस	5–15
3.	भारतीय दार्शनिक भाष्यकारों की शोध–पद्धति का अनुशीलन	प्रो. सरोज कौशल	16–29
4.	आगमतन्त्रस्य सामान्यपरिचयः	प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय:	30–37
5.	अभिनवगुप्त विरचित *श्रीपरात्रिंशिका* में अनुत्तरतत्त्व की दार्शनिक मीमांसा	डॉ. प्रदीप	38–47
6.	श्रीविद्यासाधक पं. सम्पूर्णदत्तमिश्र की सारस्वत साधना	प्रो. नीरज शर्मा	48–52
7.	आचार्य मधुकरशास्त्री कृत आगमिक स्तुति *श्रीमातृलहरी*	डॉ. स्मिता शर्मा	53–60

8.	बाला त्रिपुरा मन्त्र का पौराणिक सम्बन्ध	श्रुति एच.जानी	61–64
9.	देवीपुराणान्तर्गत शिवागमीय योग	योगेश प्रसाद पाण्डेय	65–70
10.	नेपालराष्ट्रे शैवागमस्य प्रभावः	लेखनाथपौड्याल:	71–75
11.	श्रीविद्योपासक पं. श्रीहरिशास्त्री दाधीच एवं वाणीलहरी	डा. स्मिता शर्मा प्रो. नीरज शर्मा	76–84
12.	समकालीन दार्शनिक चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा	प्रो. सुशिम दुबे	85–96
13.	मोक्ष प्राप्ति के नैतिक आदर्शों की उपदेशिका – *हंसगीता*	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	97–102

ग्रन्थ समीक्षा

14.	शब्द यात्रा का विश्व कोषात्मक सन्दर्भ ग्रन्थ : अक्षर यात्रा	महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री	103–104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'गर्भकाल में ईश्वर-जीव सम्बन्ध का वैज्ञानिक स्वरूप' में *राजस्थान पत्रिका* के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने जीव की सृष्टि क्रम की वैज्ञानिकता को शाक्त परम्परा एवं वैदिक दृष्टि से सुव्यवस्थित करने का महनीय प्रयास किया है। मातृगर्भ को क्षीरसागर के रूपक से व्याख्यायित किया है। समुद्रमन्थन के विविध देवताओं के स्वरूप की गीताधारित वैज्ञानिक दृष्टि को सुस्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अत: सादर प्रणाम एवं अभिनन्दन।

द्वितीय आलेख 'श्रीविद्या के संदर्भ में श्रीसूक्त का विवेचन' में डॉ. आदित्य आङ्गिरस ने शाक्त परम्परा को वैदिक तथा पौराणिक आधार पर सुव्यवस्थित करते हुए श्रीसूक्त की ऋचाओं के आशय को प्रतिपादित किया है। धन, ज्ञान एवं शक्ति इन तीनों का सन्तुलन श्रीविद्योपासना है जो लोक एवं परलोक दोनों को सुधारता है। वस्तुत: यह उपासना प्रकाशात्मक चिति शक्ति की है, यह सिद्ध कर महान् कार्य किया है। अत: सादर साधुवाद।

तृतीय आलेख 'भारतीय दार्शनिक भाष्यकारों की शोध-पद्धति का अनुशीलन' में प्रो. सरोज कौशल ने भाष्यकारों की शोध पद्धति को विविध उदाहरणों से पुष्ट करते हुए उसके स्वरूप निरूपण का सुरम्य प्रयास किया है। शोध पद्धति के विविध आयामों एवं मानदण्डों को सुस्पष्ट किया है एतदर्थ हार्दिक नमन।

चतुर्थ आलेख 'आगमतन्त्रस्य सामान्यपरिचयः' में प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय: ने आगम एवं निगम की विविध परिभाषाओं का सुविवेचन किया है तथा उनके विविधार्थों को सप्रमाण निरूपित किया है जिससे आगम का अर्थ साधकों के लिए सुस्पष्ट हो सके। अत: सादर साधुवाद।

पञ्चम आलेख 'अभिनवगुप्त विरचित *श्रीपरात्रिंशिका* में अनुत्तरतत्त्व की दार्शनिक मीमांसा' में डॉ. प्रदीप ने अनुत्तरतत्त्व के विविधार्थों की सयुक्तिक समीक्षा की है। इसमें इसकी षोडशी व्याख्या प्रदर्शित कर दुर्लभ तथ्यों से अवगत कराया, एतदर्थ धन्यवाद।

षष्ठ आलेख में 'श्रीविद्यासाधक पं. सम्पूर्णदत्तमिश्र की सारस्वत साधना' में प्रो. नीरज शर्मा ने कवि वरेण्य पं. सम्पूर्णदत्त मिश्र की सारस्वत उपलब्धि का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनके विविध दिव्य-स्तवों के रस माधुर्य से पाठकों को अवगत कराकर महनीय कार्य किया है, एतदर्थ सादर नमन।

सप्तम 'आचार्य मधुकरशास्त्री कृत आगमिक स्तुति *श्रीमातृलहरी*' विषयक आलेख में डॉ. स्मिता शर्मा ने मातृलहरी की दिव्यता को सुप्रमाणित किया है। साथ में कविवर की रचनाओं का सरस परिचय दिया है। *श्रीमातृलहरी* श्रीविद्या उपासना के अनेक रहस्यों की उद्घाटिका है। अत: सादर साधुवाद।

अष्टम आलेख 'बाला त्रिपुरा मन्त्र का पौराणिक सम्बन्ध' में बाला मन्त्र को पौराणिक आधारों पर परखा गया है। इसके तीन बीजों की पौराणिक कथायें सुस्पष्ट की है।

नवम आलेख 'देवीपुराणान्तर्गत शिवागमीय योग' में शिवागमीय योग को पौराणिक आधार पर सप्रमाण प्रस्तुत किया है। अत:धन्यवाद।

दशम आलेख 'नेपालराष्ट्रे शैवागमस्य प्रभावः' में नेपाल में शिव की प्रधानता को प्रमाणों से सिद्धान्तित किया है। नेपाल में शैवभक्ति की व्यापकता इस आलेख से सिद्ध की गई है। अत: वर्धापन।

एकादश आलेख 'श्रीविद्योपासक पं. श्रीहरिशास्त्री दाधीच एवं वाणीलहरी' में लेखक द्वयी ने तन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी पं. श्री हरिशास्त्री की कालजयी रचना के विविध पद्यों को उद्धृत कर उनकी रमणीय मीमांसा प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है। सादर धन्यवाद।

द्वादश आलेख 'समकालीन दार्शनिक चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा' में प्रो. सुशिम दुबे ने समकालीन दार्शनिक विवेकानन्द, राधाकृष्णन्, अरविन्द, महात्मा गान्धी, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि के मोक्ष विषयक चिन्तन की गम्भीर समीक्षा प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है। अत: सादर नमन।

अन्तिम आलेख 'मोक्ष प्राप्ति के नैतिक आदर्शों की उपदेशिका – *'हंसगीता'* में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने हंसगीता के नैतिक आदर्शों की संक्षिप्त समीक्षा सुव्यवस्थित की है।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

गर्भकाल में ईश्वर-जीव सम्बन्ध का वैज्ञानिक स्वरूप

आचार्य गुलाब कोठारी

शाक्त परम्परा में जीवसृष्टि

नवरात्र पूजन में दुर्गा एवं उसके शक्ति रूपों-काली, लक्ष्मी, सरस्वती (सभी के नामों से पूर्व 'महा' लगाकर) का स्मरण-अर्चन का कार्य होता है। दुर्गा को 'परा प्रकृति' कहा जा सकता है। उसके तीनों स्वरूप भी अक्षर सृष्टि के ही अंग हैं। अक्षर ही परा है, क्षर अपरा है। सृष्टि के प्रारंभ का सम्पूर्ण वर्णन प्रलयकाल का है। सृष्टि का पूर्ण लय हो जाने के कारण ब्रह्म पुन: मूल स्वरूप में लौट आता है। वही ब्रह्मा बनकर अगले-अगले सृष्टिकाल की प्रतीक्षा करता है।

काली मूल-शक्ति-स्वरूपा, अर्द्धनारीश्वर रूपा, दक्षिण हाथों में अभयमुद्रा एवं वर मुद्रा शिव रूप है। वाम हाथों में खड्ग एवं नर मुण्ड हैं। विद्या और अविद्या का ही स्वरूप है। दाहिना पांव शवदेह पर, उन्मेष दृष्टि से चेतना को जाग्रत करती हुई जन्म सूचक। चिता-ज्वाला-शवदाह मृत्यु सूचक। प्रकृति का मूल कार्य जन्म और मृत्यु से जुड़ा है। मध्य का सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र ही उसके नियन्त्रण में है।

काली दिगम्बर रूप में, मुण्डमालायुक्त परा रूप प्रकृति है, जबकि आभूषण-शृङ्गार युक्त स्वरूप में अपरा प्रकृति बन जाती है। ब्राह्मी-चामुण्डा-माहेश्वरी आदि इसी के स्वरूप हैं। काली सौम्या होने से 'स्वाहा' स्वरूपिणी है। जीवन में चेतना को गतिमान् रखती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसका कार्यक्षेत्र है। शिव के साथ-साथ यह भी गङ्गाधर तथा चन्द्रमौली हैं। शिव को भीतर समेटे जन्म से मृत्यु तक कर्म से युक्त रहती हैं।

सृष्टि के अगले सर्ग का आरम्भ शक्ति के जागरण पर 'इच्छा रूप' में होगा, जो कि **'एकोहं बहुस्याम्'** के रूप में प्रसिद्ध है। यही दाम्पत्य भाव प्राणी युगल (मानव सहित) में भी इसी रूप में कार्यरत रहता है। अपने पिछले सृष्टि शरीर को छोड़कर जीव भी नई सृष्टि की प्रतीक्षा में भ्रमण करता है। शक्ति की उन्मेष दृष्टि ही 'अव्यय पुरुष' से निर्माण में हेतु बनती है।

वैदिक विज्ञान में जीव एवं ईश्वर सम्बन्ध

अव्यय पुरुष एक ईश्वरीय बिन्दु भाव है। जो क्षीर सागर में स्पन्दित होता है। यही ब्रह्मा है, जो विष्णु की नाभि में प्रतिष्ठित होता है। गर्भाशय में जीव की यह प्रथम अवस्था है। चारों ओर का सम्पूर्ण क्षेत्र अन्धकारमय

है, जलमग्न है। जीव का स्पन्दन मात्र सुनाई देता है। ब्रह्म की यहाँ जीव संज्ञा है, क्योंकि जीव अविद्या के वश में अपने पिछले कर्मफलों को भोगने के लिए आ रहा है। आदि ब्रह्मा तत्त्व रूप में अव्यय होता है। उसके हृदय रूप में तीन अक्षर प्राण—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र—गतिमान् रहते हैं। वह सम्पूर्ण रूप से अमृत-सृष्टि होती है। क्षर सुप्त रहता है। ब्रह्मा का स्वभाव (प्रकृति) ही क्षर-अक्षर है। गर्भावस्था में क्षर पूर्ण रूप से क्रियाशील रहता है। यह मृत्युलोक की (मन्त्र्य) सृष्टि होती है। यहाँ जीव का आत्मा षोडशी तथा मन-प्राण-वाक् रूप होती है।

गर्भावस्था में भी जल समुद्र राजा वरुण के ही अधीन होता है। वही असुरों (अविद्या) का भी अधिष्ठाता है, जो कि पुनर्जन्म का हेतु (उपादान कारण) है। जल के स्वामी विष्णु की नाभि में जीव ब्रह्मा रूप में स्पन्दित रहता है। सम्पूर्ण गर्भकाल में जीवन पर आसुरी शक्तियों का आक्रमण निरन्तर होता रहता है। ये ही मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भ-रक्तबीजादि नामों से उल्लिखित हैं। ये ही मोह, क्रोध, लोभ आदि प्रवृत्तियाँ हैं, जो जीव को पुन: अपने वश में करने को तत्पर दिखाई पड़ती हैं। अन्धकार में केवल दैत्य ही प्रबल होते हैं, देव सुप्त रहते हैं; अत: असुर ही सदा विजयी होते हैं।

एक ही देव शक्तिमान् है, जो सम्पूर्ण क्षेत्र का अधिष्ठाता है। वह विष्णु है। वह भी सुप्त रहता है, अन्धकार में। गर्भस्थ शिशु की 'माँ' ही वह 'शक्ति' है जो विष्णु को जगाती है। स्वयं विष्णु की शक्ति (मोहिनी आदि) रूपों में असुरों का वध करने उतरती है। शिशु को विद्याभाव में संस्कारित करती रहती है। गर्भ में ही शिशु के आवरण हटाकर उसे 'मानव' रूप में तैयार करती है। यही जीव सृष्टिपूर्व का देवासुर संग्राम है, जो सूर्य के अभाव में देवताओं की सुप्त अवस्था का प्रतीक है। जीवन के चौदह रत्न प्राप्त होते हैं।

विष्णु ही कृष्ण हैं, जो अपनी इच्छा से माया रूप धारण करते हैं। सृष्टि को आगे बढ़ाते हैं। प्रकृति के कारण वे ही जीव बनते हैं। सम्पूर्ण जीवन एक देवासुर संग्राम है, जिसकी एक चरम अवस्था गर्भकाल है। असुर संस्था एकपक्षीय बलवान रहती है। दूसरी ओर धर्म का शस्त्र है। सारा खेल ब्रह्म और माया का है। कृष्ण और अर्जुन इनके प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जैसे सूर्य को सृष्टि पूर्व गीता सुनाई, वैसे ही जीव को भी सृष्टि में आने से पूर्व गीता सुनाई। जीवन रूप कर्म से परिचय कराया। कर्म को भी ब्रह्म का ही विवर्त कहकर समझाया। कर्म ही वह नौका है, जो जीव को पुन: ब्रह्म तक पहुँचाती है।

गीता में जीव एवं ईश्वर सम्बन्ध

जीवन का अर्थ है जो कल नहीं था और जो कल नहीं रहेगा। अर्थात् जन्म और मृत्यु के मध्य का काल जीवन है। जीवन का आधार है जन्म से पूर्व का काल (पिछले जन्म) और जीवन ही आधार बनता है; भावी जीवन का। इन तीनों कालों के जीवन-चक्र का आधार कर्म ही होता है। कर्म होता है तो फल होता है। फलों को भोगने के लिए ही जीवन उपलब्ध होता है। कर्म फलों की समाप्ति ही जीवन-चक्र की पूर्णता हो जाती है।

जीवन के दो ही पहलू है—ब्रह्म और कर्म। ब्रह्म का विवर्त ही जीवन है, सृष्टि है, किन्तु ब्रह्म में कर्त्ता भाव नहीं है। कर्म का आधार इच्छा होती है। बिना इच्छा के कर्म नहीं हो सकता। इच्छा उठती तो मन में है, किन्तु बहुत गहन तत्त्व है। इच्छा के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। एक और प्रकार की इच्छा भी है जो कर्म फल पर आधारित रहती है और जिसे प्रकृति पैदा करती है। प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। चूंकि सृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अत: ब्रह्म का स्वभाव ही प्रकृति के नाम से जाना जाता है। ब्रह्म की इच्छा-'**एकोहं बहुस्याम्**' ही कर्म का प्रारम्भ है। इच्छा ही यहाँ मूल प्रकृति है। इसी इच्छा के कारण प्रलयकाल की शान्त दशा विकृत हो जाती है। यहीं से कर्म की शुरुआत है और इस कर्म की क्रमबद्धता, स्वरूप और विवर्त ही *गीता* का मूल विषय बन जाता है। आत्मा के रूप में ब्रह्म और कर्म ही दो धातु हैं। एक अकर्ता और दूसरा कर्त्ता। फिर भी दोनों अभेद हैं, दो नहीं हैं। एक सागर है, दूसरा तरंग। दिखाई अलग दे सकते हैं, किन्तु हैं नहीं। इसी को पुरुष-प्रकृति भी कहते हैं। पुरुष ही प्रकृति रूप है, प्रकृति पुरुष का स्वभाव है। कर्म के रूप में पुरुष का परिचय है।

कर्म रूप सृष्टि सात लोकों के मध्य स्थूल और सूक्ष्म के मध्य बदलती रहती है। ब्रह्म ही प्रकृति बनता हुआ मूल में तीन श्रेणियों में बदलता जान पड़ता है—अमृत (अव्यय), अमृत एवं मृत्युरूप, अक्षर तथा क्षर सृष्टि। सूर्य के आगे अमृत सृष्टि है। सूर्य अक्षर सृष्टि का केन्द्र है। पृथ्वी क्षर (स्थूल) सृष्टि का आधार है। सृष्टि का प्रथम लोक स्वयंभू है। वहां से पृथ्वी तक सात आवरण चढ़ते जाते हैं, मूल केन्द्र पर। प्रतिसृष्टि में ये आवरण उसी क्रम में छूटते जाते हैं। जैसे चन्द्रयान से एक-एक करके सारे अवयव एक क्रम में छूटते जाते हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि इस सात के क्रम में ही उत्पन्न होती है। आठवाँ जीव होता है। एक भूत से दूसरे भूत का निर्माण भी सात स्तरों पर ही होता है। बीज से पेड़ का या शुक्र से सन्तान तक का क्रम भी सात स्तरों का ही होता है। सृष्टि के नियम हर स्तर पर समान है।

ब्रह्म अमृत है। गीता का अव्यय कृष्ण है। अक्षर और क्षर इसके ही स्वभाव (प्रकृति) हैं। सम्पूर्ण कामनाओं का आधार ब्रह्म ही है। अक्षर के माध्यम से क्षर रूप तक पहुँचकर निर्माण (स्थूल) करती है। अक्षर निर्माण में कारण बनता है, किन्तु उपादान कारण क्षर ही रहता है। अत: क्षर भी ब्रह्म ही कहलाता है। सब स्तरों पर मन तो केवल अव्यय का ही है। यही पुरुष कहलाता है। परात्पर ही पुरुष बनता है।

गीता में ब्रह्म को आत्मा के रूप में चित्रित किया गया है। वह न जन्मता है, न मरता है। परन्तु उसकी बृंहण की इच्छा नित्य रहती है। मन की इच्छा में प्राण सदा अनुसरण करता है और वाक् निर्मित होती है। सिद्धान्त है कि मन-प्राण-वाक् सदा साथ रहते हैं। इनको ही आत्मा कहा जाता है। मन ब्रह्म है, प्राण क्रिया (कर्म) है और वाक् फल रूप है। श्वोवसीयस मन (अव्यय का) ब्रह्म है। शेष अनन्त रूप प्रतिबिम्बित रूप हैं। जिस प्रकार मन और इच्छा पर्याय हैं, उसी प्रकार मन और प्राण भी पर्याय हैं। इच्छा के स्वीकृत होते ही मन प्राणरूप हो जाता है। वही वाक् बनता है। अत: वाक् (संसार) ही ब्रह्म है। 'बहुस्याम्' है।

गीता दो भिन्न धरातलों के मध्य संवाद है। एक ईश्वर का सूक्ष्म धरातल है, दूसरा जीव का सूक्ष्म धरातल है। जीवन सूक्ष्म से ही चलता है। जीव स्वयं ईश्वर का ही अंश है। गीता उस भेद रेखा की चर्चा है कि यह भेद कैसे पैदा होता है, कैसे कार्य करता है और कैसे मिट सकता है। चूंकि सभी प्राणी कृष्ण के अंश हैं, अत: गीता की विषय-वस्तु भी प्रत्येक प्राणी पर समान रूप से लागू होती है।

गीता की एक विशेषता यह भी है कि इसे सृष्टि के गतिमान् तत्त्व को सृष्टि-कर्म के आरम्भ में सुनाया, चाहे विवस्वान हो अथवा मनु। यह प्रतीक मात्र है। हर प्राणी ब्रह्म है, सृष्टि को गति देने को सङ्कल्पित है, अत: उसे भी प्रारम्भ में ही *गीता* का ज्ञान उपलब्ध हो जाना चाहिए। यह चेतनावस्था का काल होना चाहिए। जन्म के उपरान्त तो मनुष्य की स्मृति लुप्त हो जाती है अथवा सुप्त हो जाती है। अत: गर्भावस्था का काल आदर्श काल है। जीव अपने भावी लक्ष्य के बारे में भी जागरूक होता है। जैसे अभिमन्यु ने गर्भकाल में ही चक्रव्यूह रचना का भेदन सीख लिया था। जीवन की शक्ति, निर्बलता और चुनौतियों का ज्ञान समरक्षेत्र में उतरने से पूर्व होना चाहिए, न कि बाद में। गर्भस्थ अवस्था भी जीव को संस्कारित करने की अवस्था है। यह कार्य प्रथम गुरु-माता का ही होता है।

चूँकि मानव के अतिरिक्त सभी योनियाँ मात्र भोग योनियाँ ही कहलाती हैं, अत: मानव-माता ही जीव को कर्म-ज्ञान में प्रवृत्त कर सकती हैं। ब्रह्म और कर्म के स्वरूप की व्याख्या, कर्म में प्रवेश का कारण और मुक्ति का ज्ञान दे सकती हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय ही *गीता* के स्वरूप का आधार है। मन काम प्रधान, शरीर अर्थ प्रधान, मोक्ष आत्मा युक्त क्षेत्र तथा बुद्धि धर्म प्रधान है। बिना गीता ज्ञान के जीवन अर्थ-काम प्रधान ही रह जाता है। यह आहार-निद्रा-भय-मैथुन रूप शुद्ध पशु क्षेत्र है। जीव को मानवता के स्वरूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से गर्भस्थ ईश्वर-जीव-सम्बन्ध के वैज्ञानिक विवेचन को सार्थक एवं सयुक्तिक मानना ही उचित होगा।

प्रधान सम्पादक,
राजस्थान पत्रिका समूह,
केसरगढ़, जयपुर (राजस्थान)

श्रीविद्या के संदर्भ में श्रीसूक्त का विवेचन

डॉ. आदित्य आंगिरस

प्राचीन भारत के इतिहास को यदि देखें तो अध्यात्म के संसार में मनुष्य की स्वयं को जानने की इच्छा और परम तत्त्व की कृपा पाने की अभीप्सा एवं वह उस तत्त्व के साक्षात् दर्शन के लिए सदा से से ही उत्सुक एवं प्रयासरत रहा है जो उसके जीवन की आधार शक्ति है । मनुष्य का यह विशेष प्रयास सृष्टि के आरम्भ से लेकर अद्यतन मानवीय संस्कृति का एक निश्चित अंग बन गया है। इसी के निमित्त मनुष्य ने अपने लक्ष्य को निर्धारित कर स्वयं को अनुशासन में बद्ध कर के अध्यात्म के विभिन्न मार्गों के माध्यम से उस परम तत्त्व की खोज करने का प्रयास किया है। तत्कालीन मनुष्य समाज ने उस परम तत्त्व की अर्चना कभी मातृ रूप में तो कभी पितृ रूप अथवा गुरु रूप अथवा परमपुरुष के रूप में कर उस परमतत्त्व की कृपा का आह्वान एवं श्रद्धावश उस परम तत्त्व का आभार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। फ़िर उस अनन्त की पूजा एवं अर्चना का रूप चाहे जो चाहे हो। समस्त वैदिक एवं उप-वैदिक साहित्य एवं पुराण साहित्य मनुष्य की इसी साधना की अभिव्यक्ति मात्र ही है फ़िर वह चाहे वेद हो अथवा पुराण हो या कोई भी भक्ति ग्रन्थ हो। इन्हीं सन्दर्भों मे *देवीभागवत* पुराण में श्री देवी स्वयं ही यह कहती दिखाई पडती हैं कि वह परम तत्त्व न ही स्त्री भेद में विद्यमान है और न ही वह पुरुष रूप में विद्यमान है।

सदैकत्वं न भेदोस्ति सर्वदैव ममास्य च।
नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीवं सर्गसंक्षये।
सर्गे सति विभेदः स्यात् कल्पितो अयं धिया पुनः॥

अतः जिस किसी भी भक्त ने उस परम तत्त्व को अपना आरध्य मान कर ध्यान चिन्तन, आराधन एवं भक्ति जिस रूप में किया उस परम तत्त्व ने अपने उस भक्त को उसी रूप में दर्शन दे कर उसका जन्म कृतार्थ किया। वह परम तत्त्व पुरुषसूक्त में भी उसी प्रकार विद्यमान है जितना वैदिक उषासूक्त अथवा श्रीसूक्त में अथवा *श्रीदुर्गा सप्तशती* में । क्योंकि—

एकैव सा महाशक्तिः तया सर्वमिदं ततम्।[1]

अर्थात् वह आद्या-शक्ति भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हो कर विभिन्न कार्यों को संपादित करती प्रत्येक जीव मात्र का हित साधन करती है। औपनिषदीय साहित्य में मातृका उमा हैमवती का आख्यान इसी तथ्य को हमारे सामने प्रतिपादित करता है। *श्री दुर्गासप्तशती* में भी वही शक्ति एक ओर जगत् की योनि एवं पालन करने

वाले रूप में हमारे सामने आती है वहीं दूसरी कालरात्रि के रूप में हमारे समस्त दुरित का क्षय करने हेतु सदा ही उद्यत है। *देवीभागवत* के सातवें स्कन्ध के 32वें अध्याय में उस परमाराध्या शक्ति ने अपने रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—"मैं ही चिच्छक्ति, परमब्रह्म स्वरूपिणी हूँ, मै अग्नि की उष्णता, सूर्य की किरणें, कमल की शोभा के समान ब्रह्म से अभिन्न हूँ। मैं ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गौरी, ब्रह्माणी, वैष्णवी, सूर्य, तारागण चन्द्रमा, पशु-पक्षी, चाण्डाल, व्याध, क्रूरकर्मा, सत्य कर्मा, महाजन, स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, दृश्यादृश्य, श्रव्याश्रव्य, स्पर्शणीय, सभी कुछ मैं ही हूँ। दूसरी ओर वही मातृ शक्ति मनुष्य की श्रेष्ठतम भाव-भूमियों में समान रूप से विद्यमान है।" क्योंकि कहा भी गया है—

अहं बुद्धिरहं श्रीश्च धृतिः कीर्तिः स्मृतिस्तथा।
श्रद्धा मेधा दया लज्जा क्षुधा तृष्णा तथा क्षमा॥[2]

अतः जो व्यक्ति इन सभी भावभूमियों में भेद करता हुआ मेरी कृपा को प्राप्त करने का प्रयास करता है वह निश्चय ही मतिभ्रम का पात्र बनता है परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति इस तथ्य को सूक्ष्म रूप से जानता हुआ मेरी कृपा को प्राप्त करता है वह महान् विवेकी एवं बुद्धिमान् व्यक्ति इस संसार सागर को पार कर मोक्ष का भागी बनता है।

यो असौ साहमहं जाने भेदोस्ति मतिविभ्रमात्॥
आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्रसंशयः॥[3]

अत: कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति उस परम तत्त्व के उस एकीकृत रूप को सदा से ही देखने का पक्षपाती रही है। जो इस समस्त जगत् का उद्भव रक्षा एवं प्रलय का स्थान रहा है एवं यही विशिष्ट शक्ति ही जीवन का अन्तिम सत्य है। वस्तुत: यही वैदिक साधना के रूप में श्रीविद्या के रूप में भारतीय संस्कृति में विद्यमान है।

जो व्यक्ति भारतीय साधना धर्म साधना एवं प्रचलित पद्धति के विषय में ऐतिहासिक रूप से जानते है वे यह बात तो निश्चित रूप से स्वीकार करते है कि काल-क्रमानुसार जहाँ भारतीय साधना पद्धति में उस परम तत्त्व के प्रति श्रद्धा का एक ओर जहाँ विकास हुआ वहीं दूसरी ओर तत्त्व-साधना के नाम पर विभिन्न विचारों वाले सम्प्रदाय भी चल निकले जिनमें शाक्त सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय आदि विचारधाराएं भारतीय संस्कृति के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। इन विचारधाराओं में यद्यपि साधना का अन्तिम लक्ष्य जीवन के अन्तिम सत्य को जानने की उत्सुकता रही है परन्तु कालभेद एवं विचार भेद के कारण साधना पद्धतियों में भिन्नता आ गई। वर्तमान युग में इन साधना पद्धतियों को अनेक नामों से जाना जाता है जैसे भक्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग, योग मार्ग आदि। समस्त पुराण साहित्य एवं *पातंजल योग* सूत्र इसी तथ्य को हमारे सामने प्रस्तुत करते है। वस्तुत: इन सभी साधनाओं का मन्तव्य केवल उस परम सत्ता से

संवाद स्थापित करते हुए उस तत्त्व की कृपा का भागी बनना मात्र रहा फ़िर चाहे वह मातृ रूप में हो अथवा गुरु रूप के माध्यम से हो।

वैदिक साहित्य में कहीं एक बहुश्रुत वाक्य आता है कि उस ईश्वर ने बिना उपादानों के केवल अपनी इच्छा मात्र से इस सृष्टि की रचना की एवं तत्पश्चात् सभी चराचर जीवों में समान रूप से प्रविष्ट हो गया। समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त परशिव की इस आवरणात्मिका शक्ति को वेदान्तियों ने माया कहा है। इसका वाचक नाम या प्रणव 'ह्रीं' है। सृष्टि के लय काल में यही माया शक्ति ह्रीं समस्त सृष्टिबीज को अपने कोख में पालती हुई सुरक्षित रखती है। यही कारण है कि तान्त्रिक ग्रन्थों में इसे प्रतिपालिका कहा गया है। यही महामाया जब सृष्टि की पुनः कामना करती है, तो इसका अभिधान या वाचक बीज 'क्लीं' होता है और सृष्टिसंरचना में प्रवृत्त यही महाशक्ति 'ऐं' बीज से वाच्य होती है। *रुद्रयामल (गौरीतन्त्रम्) कुञ्जिकास्तोत्रम्* में इसी की चर्चा है—

ऐंकारी सृष्टिरूपिण्यै ह्रींकारी प्रतिपालिका।
क्लींकारी कामरूपिण्यै बीजरूपे नमोऽस्तुते।।

अत: उपनिषद् साहित्य जब **'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।'** की बात करता है तो वास्तविक तौर पर उसी श्रीविद्या की ही बात करता है जो 'अन्धं तम:' से परे है। क्योंकि उपनिषत् साहित्य में इन्हीं संदर्भों में स्पष्टत: एक निश्चित बात आती है कि जीव एवं ईश्वरीय शक्ति में तद्रूपता है एवं मनुष्य जीवन का महत्तम लक्ष्य उस ईश्वरीय शक्ति को अपने भीतर देखना है क्योंकि 'योसावसौ पुरुष: सोहमस्मि॥' अत: श्रीविद्या आत्मविद्या का ही स्वरूप है जिसमें मनुष्य अपनी आवरणात्मिका शक्ति को भेद कर उस परम प्रकाशमय पुरुष के स्वयं में दर्शन करता है।

यह बात तो निश्चित है कि मनुष्य जीवन आठ प्रकार के विभिन्न पाशों से आबद्ध हैं जोकि अविद्या का परम रूप है —

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः।।[4]

इन अष्ट पाशों में विवशतापूर्वक बंधे होने के कारण ही मानव अपने जीवन में श्री को अनुभूत नहीं कर सकता है और इन्हीं संदर्भों में कहा भी किया गया है—**पाशबद्धः पशुर्ज्ञेयः पाशमुक्तो महेश्वरः।**[5] (*कुलार्णवतन्त्रम्*-13-91)

अतः साधना पथ पर अग्रसर होकर ज्ञानलब्ध हो कर उस श्री को अपने जीवन में अनुभूत करना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है। वस्तुत: 'श्री सूक्त' अथवा 'लक्ष्मी सूक्त' अग्नि आदि देवताओं के माध्यम से देवी लक्ष्मी की आराधना करने हेतु उनको समर्पित मन्त्र हैं जो *ऋग्वेद* (खिल भाग) के पांचवें मण्डल के अन्त में उपलब्ध होते हैं। इस सूक्त में मन्त्रों की संख्या पन्द्रह है एवं इस सूक्त के अन्त में सोलहवें मन्त्र में फलश्रुति

के विधान है। इस सूक्त के अन्य ग्यारह मन्त्र परिशिष्ट के रूप में उपलब्ध होते हैं। आनन्द, कर्दम, श्रीद और चिक्लीत ये चार श्रीसूक्त के ऋषि हैं। वैदिक साहित्य में इन चारों को श्री-पुत्र माना गया है। श्रीपुत्र हिरण्यगर्भ को भी श्रीसूक्त का ऋषि माना जाता है। श्रीसूक्त का चौथा मन्त्र बृहती छन्द में है। पांचवाँ और छठा मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में है। अन्तिम मन्त्र का छन्द प्रस्तारपंक्ति है । शेष मन्त्र अनुष्टुप छन्द में है। श्रीशब्दवाच्या लक्ष्मी इस सूक्त की देवता हैं। श्रीसूक्त का विनियोग लक्ष्मी के आराधन, जप, होम आदि में किया जाता है। महर्षि बोधायन, वशिष्ठ आदि ने इसके विशेष प्रयोग बतलाये हैं । श्रीसूक्त की फलश्रुति में भी इस सूक्त के मन्त्रों का जप तथा इन मन्त्रों के द्वारा होम करने के विशेष निर्देश किये गये हैं। आराधनाक्रम में श्रीसूक्त के पन्द्रह मन्त्रों का वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

1. भगवान जातवेदस् (अग्नि) से लक्ष्मी को अभिमुख करने की प्रार्थना,
2. लक्ष्मी से सान्निध्य के लिये प्रार्थना,
3. लक्ष्मी का आवाहन,
4. लक्ष्मी की शरणागति एवं अलक्ष्मी नाश की प्रार्थना,
5. अलक्ष्मी और उसके सहचारिणी दुर्गुणों आदि के नाश की प्रार्थना,
6. माङ्गल्यप्राप्ति की प्रार्थना,
7. अलक्ष्मी और उसके कार्यों का विवरण देकर उसके नाश की प्रार्थना,
8. लक्ष्मी का आवाहन,
9. मन, वाणी आदि की अमोघता तथा समृद्धि की स्थिरता के लिये प्रार्थना,
10. कर्दम प्रजापति से प्रार्थना,
11. लक्ष्मी के परिकर से प्रार्थना,
12. लक्ष्मी के नित्य सान्निध्य के लिये पुनः भगवान् से प्रार्थना,
13. पुनः लक्ष्मी के नित्य सान्निध्य के लिये भगवान् से प्रार्थना,
14. भगवान् से लक्ष्मी के आभिमुख्य की प्रार्थना,
15. फलश्रुति।

इसी के साथ लक्ष्मी-सूक्त के परिशिष्ट के रूप में उपलब्ध मन्त्रों के विषय इन्हीं सदर्भों में द्रष्टव्य है।

1. सौख्य की याचना
2. समस्त कामनाओं की पूर्ति की याचना

3. सान्निध्य की याचना

4. समृद्धि के स्थायित्व के लिये प्रार्थना

5. देवताओं में लक्ष्मी के वैभव का विस्तार

6. सोम की याचना

7. मनोविकारों का निषेध

8. लक्ष्मी की प्रसन्नता के लिये प्रार्थना

9. लक्ष्मी की वन्दना

10. लक्ष्मीगायत्री

11. अभ्युदय के लिये प्रार्थना

यहाँ यह कहना उचित ही होगा कि काल भेद के अनुसार किन्ही कारणवश योग एवं शाक्त सम्प्रदाय में कुछ ऐसा सामंजस्य स्थापित हुआ जिसके परिणाम स्वरूप यह समन्वय साधना दो भागों में विभक्त हो गई जिसमें प्रथम दक्षिण मार्ग और दूसरा वाम मार्ग के रूप में हमारे सामने आती है। अत: दक्षिण मार्ग जहाँ वैदिक विचारधारा से प्रभावित हुआ जिसमें दक्षिणकाली, लक्ष्मी आदि की मातृ रूप में उपासना का विशिष्ट विधान एवं पद्धति विकसित हुई वह भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में श्रीविद्या के नाम से मत प्रचलित हुआ। वहीं दूसरी ओर वाम मार्ग एक ऐसा तांत्रिक सम्प्रदाय है जहाँ वामाचार और शक्ति की उपासना की अद्भुत विधियों का विस्तार से वर्णन हुआ है जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में कौलिकी साधना के रूप में प्रचलित हुआ। इसमें भैरवी चक्र निरूपण विशेष महत्त्व रखते है एवं शक्तिपात का विशेष स्थान माना जाता है ।शाबर तन्त्र साधना इसी प्रकार की साधना का रूप है। वाममार्ग में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन एवं विभिन्न अभिचार क्रियाओं आदि बातों का विधान रहता है जिसे साधारण रूप में सामाजिक रूप में व्यक्ति स्वीकार करने में हिचक महसूस करता है। परन्तु दोनों ही मार्गों का अन्तिम लक्ष्य केवल उस परम तत्त्व की कृपा पाना ही है।दक्षिण मार्ग विहित एवं सरल मार्ग माना जाता है जबकि कौलिक साधना कठिन एवं समाज में अविहित रूप में प्रचलित है।

वस्तुत: वाममार्ग शाक्तवाद का ही एक रूप माना जाता है एवं इतिहासकार इसे महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद प्रचलित साधना पद्धति का विकसित स्वरूप मानते है। धर्म साधना के इतिहास को यदि देखें तो महात्मा बुद्ध के उपदेशों एवं पातंजल योगसूत्र ने बौद्ध धर्म की विकास यात्रा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया एवं किसी काल में लघु एशिया से लेकर चीन तक, मध्य एशिया और भारत आदि दक्षिणी एशियाई देशों में शाक्तमत एवं *पतंजलि के योगसूत्र* ने व्यापक प्रभाव डाला जिसके प्रमाण हमें अभी भी थाईलैण्ड,

कम्वोडिया,जापान आदि देशों की तद्देशीय सांस्कृतिक धरोहर के रूप में विद्यमान है।एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी हमारे सामने आता है कि शाक्तवाद एवं योगसूत्र के माध्यम से बौद्ध उपदेशों में कनिष्क के समय में महायान और वज्रयान मत का विकास हुआ था। वामाचार अथवा वाममार्ग का प्रचार भारत के आसाम, बंगाल, उडीसा में अधिक व्यापक रहा। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि दक्षिणामार्गी शाक्त वाममार्ग को हेय मानते हैं। उनके तंत्रों में वामाचार की निन्दा केवल इसी लिये हुई है क्यों कि वामाचार एकान्तिक साधना होते हुए भी अविहित पदार्थों को भोग्य रूप में स्वीकार करती है।

श्रीसूक्त का विश्लेषण

जैसा कि पूर्वोक्त में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय धर्म साधना तत्कालीन समाज में उस परम तत्त्व के प्रति संवेदना, आस्था एवं श्रद्धा को द्योतित करती हुई कृतज्ञता का ज्ञापन करती है एवं वहीं इन्हीं संदर्भों में यह श्रेष्ठतम साहित्य के रचनाकार तत्कालीन मानव समाज ने अपने भाव को अभिव्यक्त करने के लिये उस परम तत्त्व को कभी पूर्ण पुरूष ले रूप में माना तो कभी मातृरूप में स्वीकृत कर उपासना करने लगा क्योंकि अखिल सृष्टि की केवल एक मात्र योनि वह ईश्वर ही है जिसे वेद 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा:' कह कर *पुरुषसूक्त* वर्णित करता है।महत्त्वपूर्ण बात यहाँ यह है कि हमारे सामने वैदिक ऋषि तत्त्व द्रष्टा के रूप में आते है जो लिंग भेद से परे होता हुआ संयुक्त रूप में विद्यमान है। आचार्य शंकर ने *'आनन्दलहरी'* के माध्यम से यही कहा है—

शिव:शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।

अर्थात् शक्ति से युक्त होने पर ही शिव प्रभावशाली हैं। शक्ति की रंजना न होने पर उनमें कोई संचार व गति सम्भव नहीं। 'शि' से शक्ति रुपी इकार की मात्रा को यदि हटा दें तो शेष जो रहेगा वह 'शव' (प्राणहीन) होगा।शक्ति की आराधना की प्राथमिकता को दूसरे शब्दों में यों समझें कि 'सच्चिदानन्द पुरुष' सत्तावान् पुरुष का लक्षण है । बह्म के सत्, चैतन्य और आनन्द रूप हैं, वस्तुत: वह तत्त्व ही नाम और रूप (जगत् रूप) भासित होता है। फ़िर ये पाँचो एकसाथ ही भासित होते हैं। किन्तु प्राणिमात्र को सिर्फ नाम और रूप का ही अनुभव प्रथमतः होता है। ये नामरूप ही आवरण शक्ति है, जिसने सच्चिदानन्द को आच्छादित कर रखा है। साधक इस आवरण को ही प्रथमतः पार करता है। इस प्रकार शक्ति की आराधना की प्राथमिकता सिद्ध होती है। अब इसे तीसरे रूप में समझने का प्रयास करें — नवजात शिशु सर्वप्रथम पिता की अपेक्षा माता का ही बोध प्राप्त करता है (जानता-समझता) है। इसी भाँति मातृ रूप से परमात्मा की उपासना युक्तिसंगत और सहज प्रतीत होता है। गौरी-शंकर, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि नामोच्चारण का प्रचलन इसी प्राथमिकता का संकेत है। अत: कहना न होगा कि वैदिक सूक्तों में जहाँ वह परमतत्त्व पुरुष रूप में विद्यमान है वहीं दूसरी

ओर वही तत्त्व स्त्रीरूप में भी उतना ही आराध्य है फ़िर चाहे वह लक्ष्मी अथवा उषासूक्त या कोई अन्य सूक्त हो। वास्तव में इन सभी सूक्तों के माध्यम से मनुष्य जीवन में केवल उस परम प्रकाश को अपने भीतर पाने का प्रयत्न किया गया है जो इस सम्पूर्ण मानवीय अस्तित्त्व की आधार भूमि है। अत: उपासना का यह प्रकार सात्त्विक रूप में प्रकाशोपासना कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में वस्तुत: आत्मविद्या ही श्री विद्या है जिसमें मनुष्य उस प्रकाशरूप चिन्मय शक्ति को अपने जीवन में आह्वानीय रूप से स्वीकृति देता है। क्योंकि श्री का अर्थ केवल धन धान्य नहीं है। वस्तुत: श्री शब्द का सम्बन्ध जीवन की समस्त उन उच्चतर भावभूमियों से उतना ही गहरा है जिसके द्वारा मनुष्य जीवन में श्रद्धा और आस्था आदि सद्गुणों का विकास हो सकता है। इन्हीं संदर्भों प्रकाश उन प्रमुख सभी अर्थों में से एक अर्थ है। इस सूक्त के प्रथम एवं द्वितीय मन्त्र में अग्नि का आह्वान एवं प्रार्थना इन्हीं संदर्भों मे एक महत्त्वपूर्ण बात द्रष्टव्य है। वस्तुत: आर्ष परम्परा में अग्नि जीवन एवं विचार शक्ति का आधार रही है फ़िर चाहे वह पार्थिव अग्नि हो अथवा सूर्य का प्रकाश अथवा आत्म हो। वैदिक ऋषियों ने इस प्राकृतिक तत्त्व को देखा समझा एवं अनुभूत किया एवं व्याख्यायित किया। अत: श्री सूक्तं में वैदिक ऋषि ने स्वयं ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहा है –"**अलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्**"। अलक्ष्मी केवल धन धान्य का अभाव नहीं। वह अलक्ष्मी मनुष्य चित्त में वैचारिक अथवा भावात्मक रूप अथवा चैतसिक रूप में भी विद्यमान हो सकती है। अत: श्री अथवा लक्ष्मी का आह्वान साधक विशेषकर इन्हीं संदर्भों में करता है ताकि वह जीवन को पूर्णता के साथ जीवन जीते हुए उस दैवी कृपा का अनुभव कर सके जो इस समस्त जगत् की आधार-शक्ति होते हुए समस्त प्रकार का भोग एवं ऐश्वर्य देने वाली है एवं समस्त प्रकार की अविद्या का नाश करने वाली है। परिशिष्ट मन्त्रों में महाधन शब्द का प्रयोग इन्हीं संदर्भों में हुआ है। अत: *ईशोपनिषद* जब विद्या एवं अविद्या की बात करते हुए जब भी विद्यारूपी अमृत की बात करती हैं तो उसका विद्या का आधार वह परमशिव अथवा वह पराशक्ति है जिसकी कृपा से मनुष्य प्रकाशमार्ग पर अग्रसरित हो कर स्वयं में ही उस ईश्वर के दर्शन करता है।

जन्म से लेकर मरण तक सभी छोटे से लेकर बडे कारण का मूल स्रोत केवल मात्र दिव्य शक्ति ही है जिसके माध्यम से प्रत्येक चर अथवा अचर जीव अपनी स्थिति में अवस्थित रहती है। शक्ति की यही उचित मात्रा और उपयोग मानव जीवन में सफलता का निर्धारण करती है, इसलिए शक्ति का अर्जन और उसकी वृद्धि ही मानव की मूल कामना होती है। धन, सम्पत्ति, समृद्धि, राजसत्ता, बुद्धि बल, शारीरिक बल, अच्छा स्वास्थ्य, नेतृत्व क्षमता आदि ये सब उस परा शक्ति के ही विभिन्न रूप है। उस परा शक्ति के असन्तुलित होना ही मनुष्य के विनाश का कारण बनती है। इन्हीं संदर्भों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शक्ति की प्राप्ति पूर्णता का प्रतीक नहीं है, वरन् शक्ति का सन्तुलित मात्रा में होना ही पूर्णता है। वस्तुत: शक्ति का यह सन्तुलन ही मनुष्य जीवन में विकास के विभिन्न मार्ग प्रशस्त करता है। वहीं दूसरी ओर इसका असन्तुलन ही मनुष्य के पतन एवं विनाश का कारण बनता है। समस्त प्रकृति पूर्णता और सन्तुलन के सिद्धान्त पर कार्य करती है।

जीवन के विकास और उसे सुन्दर बनाने के लिये धन-ज्ञान और शक्ति के बीच संतुलन आवश्यक है। श्रीविद्या-साधना वही कार्य करती है, श्रीविद्या-साधना मनुष्य को तीनों शक्तियों की संतुलित मात्रा प्रदान करती है और उसके लोक परलोक दोनों सुधारती है।

जब मनुष्य में शक्ति संतुलन होता है तो उसके विचार पूर्णतः सकारात्मक होते है और इससे प्रेरित हो मनुष्य कर्म शुभ होते है और शुभ कर्म ही मानव के लोक-लोकान्तरों को निर्धारित करते है तथा मनुष्य सारे भौतिक सुखों को भोगता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

अत: श्रीविद्या-साधना ही एक मात्र ऐसी साधना है जो मनुष्य के जीवन में संतुलन स्थापित करती है। अन्य सारी साधनाएं असंतुलित शक्ति प्रदान करती है। इसलिए कई तरह की साधनाओं को करने के बाद भी साधक अपने जीवन में किसी न किसी प्रकार की न्यूनता का अनुभव करता है। अत: सभी साधक कई तरह के अभावों और संघर्ष में दुःखी जीवन जीते हुए दिखाई देते है और इसके परिणाम स्वरूप जन सामान्य के मन में साधनाओं के प्रति अविश्वास और भय का जन्म होता है और वह साधनाओं से दूर भागता है। भय और अविश्वास के अतिरिक्त योग्य गुरु का अभाव, विभिन्न यम-नियम-संयम, साधना की सिद्धि में लगने वाला लम्बा समय और कठिन परिश्रम भी जन सामान्य को साधना क्षेत्र से दूर करता है। किंतु श्रीविद्या-साधना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अत्यंत सरल, सहज और शीघ्र फलदायी है। वस्तुत: साधना का यह स्वरूप व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक है। कलियुग में श्रीविद्या की साधना ही भौतिक, आर्थिक समृद्धि और मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

श्रीविद्या-साधना के सिद्धान्त

इन्हीं संदर्भों में एक कथा प्रचलित है कि एक बार पराम्बा पार्वती ने भगवान शिव से पूछा कि आपके द्वारा प्रकाशित तन्त्रशास्त्र की साधना से मनुष्य समस्त आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता से मुक्त हो जायेगा परन्तु सांसारिक सुख, ऐश्वर्य, उन्नति, समृद्धि के साथ जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति कैसे प्राप्त हो इसका कोई उपाय बताईये। भगवती पार्वती के अनुरोध पर कल्याणकारी शिव ने श्रीविद्या साधना प्रणाली को प्रकट किया। श्रीविद्या साधना भारतवर्ष की परम रहस्यमयी सर्वोत्कृष्ट साधना प्रणाली मानी जाती है। ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि समस्त साधना प्रणालियों का समुच्चय (सम्मिलित रूप) ही श्रीविद्या-साधना है।[6]

यदि *श्रीसूक्त* के सभी मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को ध्यान से देखें तो एक बात स्वत: ही हमारे सामने स्पष्ट होती है कि मनुष्य अग्नि को देवताओं का प्रतिनिधि मान कर ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ कहता है आप मुझे सुवर्ण के समान पीतवर्ण वाली तथा किंचित हरितवर्ण वाली तथा हरिणी रूपधारिणी स्वर्ण मिश्रित रजत की माला धारण करने वाली, चाँदी के समान श्वेत पुष्पों की माला धारण करने वाली, चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान तथा चन्द्रमा की तरह संसार को प्रसन्न करने वाली अथवा चंचला के सामान रूपवाली ये हिरण्मय

ही जिसका शरीर है ऐसे गुणों से युक्त लक्ष्मी जी को मेरे लिए बुलाइये जिनके आवाहन करने पर मै समस्त ऐश्वर्य जैसे स्वर्ण, गौ, अश्व और पुत्र पौत्रादि को प्राप्त करूँ।

अपनी प्रार्थना को साधक सबकी आश्रयदाता माता लक्ष्मी को अपने घर में सदैव निवास करने का आह्वान करता है। क्योंकि देवी का स्वरूप, वाणी और मन का विषय न होने के कारण अवर्णनीय है तथा जिसके अधरों पर सदैव मुस्कान रहती है, जो चारों ओर सुवर्ण से ओत-प्रोत है एवं दया से आर्द्र हृदय वाली देदीप्यमान हैं। स्वयं पूर्णकाम होने के कारण भक्तो के नाना प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करने वाली, कमल के ऊपर विराजमान, कमल के सदृश गृह मैं निवास करने वाली संसार प्रसिद्ध धन दात्री केवल माँ लक्ष्मी ही हैं। अतः भक्त उस शक्ति का आश्रय लेने की प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे माता! आपकी कृपा से मेरी सभी प्रकार की भौतिक दरिद्रता नष्ट हो। अत: साधक इस प्रकार साधना करता हुआ जब ईश्वरीय कृपा का अनुभव करता है तो उसका जीवन श्रेष्ठतम बनता है क्योंकि लक्ष्मी का यह स्वरूप साधक के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर अपना व्यापक प्रभाव डालता है जिनमें से कतिपय पक्ष निम्नलिखित है ।

1. शक्ति के सभी रूपों में धन-समृद्धि, सत्ता, बुद्धि, शक्ति, सफलता के क्षेत्र में संतुलन ।

2. धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति।

3. सुलभता सरलता एवं सौख्यता।

4. चित्त की निर्मलता।

5. सदा एवं शाश्वत लाभ और सर्वांगीण उन्नति।

देवताओं और ऋषियों द्वारा उपासित श्रीविद्या-साधना वर्तमान समय की आवश्यकता है। यह परमकल्याणकारी उपासना करना मानव के लिए अत्यंत सौभाग्य की बात है। आज के युग में बढ़ती प्रतिस्पर्धा, अशांति, सामाजिक असंतुलन और मानसिक तनाव ने व्यक्ति की प्रतिभा और क्षमताओं को कुण्ठित कर दिया है। क्या आपने कभी सोचा है कि हजारों प्रयत्नों के बाद भी आप वहाँ तक क्यों नहीं पहुच पाये जहाँ होना आपकी चाहत रही है ? आप के लिए अब कुछ भी असंभव नहीं है, चाहें वह सुख-समृद्धि हो, सफलता, शांति ऐश्वर्य या मुक्ति (मोक्ष) हो। ऐसा नहीं कि साधक के जीवन में विपरीत परिस्थितियां नहीं आती है। विपरीत परिस्थितियां तो प्रकृति का महत्वपूर्ण अंग है। संसार में प्रकाश है तो अंधकार भी है। प्रकाश का महत्त्व तभी समझ में आता है जब अंधकार हो। सुख का अहसास तभी होता हैं जब दुःख का अहसास भी हो चुका हो। श्रीविद्या-साधक के जीवन में भी सुख-दुःख का चक्र तो चलता है, लेकिन अन्तर यह है कि श्रीविद्या-साधक की आत्मा व मस्तिष्क इतने शक्तिशाली हो जाते है कि वह ऐसे कर्म ही नहीं करता कि उसे दुःख उठाना पड़े किंतु फिर भी यदि पूर्व जन्म के संस्कारों, कर्मो के कारण जीवन में दुःख

संघर्ष है तो वह उन सभी विपरीत परिस्थितियों से आसानी से मुक्त हो जाता है। वह अपने दुःखों को नष्ट करने में स्वयं सक्षम होता है।

श्रीसूक्त एवं इस के परिशिष्ट के 11 मन्त्रों में उस परम प्रकाशरूप में कतिपय जो नाम और मिलते हैं उन सभी का संदर्भ उस ईश्वर की प्रकाशात्मक चिति शक्ति को मनुष्य अपने जीवन में देखने मात्र में ही है।

1. हिरण्यवर्णा, हरिणी, सुवर्णरजतस्रजा, चन्द्रा, हिरण्मयी, लक्ष्मी
2. अनपगामिनी
3. अश्वपूर्वा, रथमध्या, हस्तिनादप्रबोधिनी, श्री, देवी
4. का, सोस्मिता, हिरण्यप्राकारा, आर्द्रा, ज्वलन्ती, तृप्ता, तर्पयन्ती, पद्मे स्थिता, पद्मवर्णा
5. प्रभासा, यशसा ज्वलन्ती, देवजुष्टा, उदारा, पद्मनेमि
6. आदित्यवर्णा
7. गन्धद्वारा, दुराधर्षा, नित्यपुष्टा, करीषिणी, ईश्वरी
8. माता, पद्ममालिनी
9. पुष्करिणी, यष्टि, पिङ्गला,
10. पुष्टि, सुवर्णा, हेममालिनी, सूर्या
11. पद्मानना, पद्मोरू, पद्माक्षी, पद्मसम्भवा
12. अश्वदायी, गोदायी, धनदायी, महाधना,
13. पद्मविपद्मपत्रा, पद्मप्रिया, पद्मदलायताक्षी, विश्वप्रिया, विश्वमनोनुकूला
14. सरसिजनिलया, सरोजहस्ता, धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभा, भगवती, हरिवल्लभा, मनोज्ञा, त्रिभुवनभूतिकारी
15. विष्णुपत्नी, क्षमा, माधवी, माधवप्रिया, प्रियसखी, अच्युत वल्लभा
16. महादेवी, विष्णुपत्नी

उपर्युक्त सभी नाम वैदिकी प्रकाशोपासना के ही रूप हैं जिनमें ईश्वरी शक्ति का आह्वान कर भक्त उस पराशक्ति के प्रकाश को अपने भीतर अनुभव करता है। वस्तुतः इस प्रकार की शक्ति उपासना स्वयं ही

ब्रह्मस्वरूपा है। यही दुर्द्धर्ष आत्मशक्ति का स्वरूप है जिसको सिद्ध करने के पश्चात् जीवन में किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहता—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्ष; यत्रास्ति मोक्षः न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां,भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

अत: श्रीविद्या प्रकाशोपासना का वह स्वरूप है जो कि मूढ़ को भी परम ज्ञानी, रंक को भी राजा, निराश से निराश व्यक्ति को भी आशावान् बना सकती है। श्री विद्या के साधक को कला, गुण, ज्ञान और वर्चस्व और आधिपत्य आदि स्वयं ही प्राप्त होते हैं। श्री विद्या का साधक उस परम शक्ति को प्राप्त करता है जिससे कि उसके प्रभाव क्षेत्र में आने पर कोई भी व्यक्ति वस्तु या तत्त्व उससे आकर्षित हुए बिना नही रह पाता। श्री विद्या का प्रभाव क्षेत्र अनन्त है। सच मे ही श्री विद्या वह महाविद्या है जिसकी कृपा प्रत्येक मनुष्य को सायास प्राप्त करनी ही चाहिए।

सन्दर्भ

1. *कल्याण: शक्ति अंक*, पृ. 628
2. *देवीभागवत* –स्कन्ध 3, अध्याय, 6
3. *देवीभागवत* –स्कन्ध, 3 अध्याय, 6
4. *कुलार्णवतन्त्रम्*, 13-9
5. *कुलार्णवतन्त्रम्*–13.91
6. https://lifeyogshri.wordpress.com/2018/02/07/%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%82%E0%A4%-B0% E0% A4%BE%E0%A4%9C%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%9C%E0%A5%87%E0%A4%B6%E0%A5%8D%E0%A4%B5%E0%A4%B0%E0%A5%80%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AA%E0%A5%81%E0%A4%B0/

वी वी बी आई एस एण्ड आई एस
(पंजाब विश्वविद्यालय)
साधु आश्रम,
उना रोड, होशियारपुर।
चलवाणी- 9417188202

भारतीय दार्शनिक भाष्यकारों की शोध-पद्धति का अनुशीलन

प्रो. सरोज कौशल

दर्शनशास्त्र की समृद्ध परम्परा शोध के नूतन वातायन उन्मीलित करती है। भारतीय दर्शन हमें केवल दार्शनिक अवधारणाओं से ही परिचित नहीं करवाता अपितु अनुसन्धान की अनेक दिशायें प्रदान करता है। दर्शन-शाखायें सूत्र-भाष्य-टीका तथा उपटीका-परम्परा से पल्लवित पुष्पित हुई हैं। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष रीति से सिद्धान्तों का सविशद निरूपण दार्शनिकों के प्रज्ञापरिपाक का परिचायक है। पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए पूर्ण पारदर्शिता रखना तथा पूर्वपक्ष का गहन अध्ययन भी एक महती विशेषता है। किसी भी पूर्वपक्षी का नाम कथन न करना अपितु 'इति केचित्' 'यत्तु कश्चिदाह' आदि अंशों से संकेत करना—इससे यह अभिव्यञ्जित होता है कि आचार्यों को सिद्धान्तों का खण्डन अभिप्रेत था न कि व्यक्तिविशेष का।

यदि यह प्रश्न किया जाये कि तत्तद् दर्शन शाखाओं में टीका-उपटीका की परम्परा का प्राधान्य क्यों रहा? स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की अपेक्षा टीका ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा में यह विशेषता प्राप्त होती है कि टीकाकारों ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों की विषयवस्तु का मौलिकता से विवेचन किया तथा अनेकत्र इस स्वाभाविक जिज्ञासा का भी समाधान किया। आचार्य जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में कहा—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
उक्तिवैचित्र्यकथनमात्रमत्र प्रकाशने।।

आचार्य जयन्तभट्ट कहते हैं कि नूतन वस्तु की उत्प्रेक्षा में तो हम समर्थ नहीं हैं परन्तु 'उक्तिवैचित्र्य' तो हम प्रस्तुत कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रखर दार्शनिक पं. मधुसूदन ओझा ने अपने ग्रन्थों की रचना का घोषणा वाक्य प्रस्तुत करते हुए कहा—

यत्र प्रदर्श्याः विषयाः पुरातनाः।
यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रकाशने। — *ब्रह्मविज्ञान*

बादरायण व्यास द्वारा '*ब्रह्मसूत्र*' की रचना की गई। उस पर अनेक भाष्यों की रचना की गई। आचार्य शङ्कर का भाष्य उनमें से सर्वप्रचलित भाष्य है। आचार्य शङ्कर ने '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' सूत्रस्थ 'अथ' पद के अर्थ की विवेचना करते हुए अनेक परिकल्पनायें प्रस्तुत कीं—

अत्राथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते—प्रतिज्ञा
नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्—हेतु
मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्—हेतु
अन्यार्थप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति।
पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात्—हेतु।[1]

आचार्य शङ्कर ने पूर्वप्रकृतापेक्षा और आनन्तर्य इन दोनों पदों के अर्थों को परस्पर भिन्नार्थक नहीं माना। अर्थात् पूर्वप्रकृतापेक्षा और आनन्तर्य तो अभिन्न ही हैं। इस प्रसङ्ग में भामती टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने बहुत सूक्ष्म अर्थभेद रेखांकित किया है—

परमार्थतस्तु कल्पान्तरोपन्यासे पूर्वप्रकृतापेक्षा न चेह कल्पान्तरोपन्यास इति
पारिशेष्यादानन्तर्यार्थ एवेति युक्तम्।[2]

भामतीटीकाकार ने पूर्वप्रकृतापेक्षा तथा आनन्तर्य की अभिन्नार्थता में भी भिन्न प्रसङ्ग-प्रायोगिकता निरूपित की है। जहाँ एक प्रकरण के पश्चात् अन्य प्रकरण प्रारम्भ हो वहाँ 'पूर्वप्रकृतापेक्षा' अर्थ माना जायेगा परन्तु 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में 'कल्पान्तरोपन्यास' का प्रसङ्ग ही नहीं है अतः पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता। फलतः आनन्तर्य अर्थ को ही स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य शङ्कर के द्वारा प्रतिपादित पूर्वप्रकृतापेक्षा और आनन्तर्य की एकार्थता में भी भामतीकार ने सूक्ष्म अन्तर को निरूपित कर उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों को रेखांकित किया है।

एकवाक्यता का क्रमपालन

भाष्यकार, टीकाकार तथा प्रकरणग्रन्थों के रचनाकारों ने सर्वत्र एकवाक्यता का विशेष अवधान रखा है। यथा न्यायपरम्परा में 'प्रमाण' इस पदार्थ को करणार्थक माना गया है — प्रमाकरणं प्रमाणम्। प्रमाणों की चतुःसंख्या में प्रत्येक लक्षण में करणपरकव्युत्पत्ति आवश्यकरूपेण घटित होती है। यथा—

1. **प्रत्यक्ष प्रमाण**—साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्।
2. **अनुमान प्रमाण**—लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयते अतः लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। इस प्रकार प्रत्येक प्रमाण-भेद में 'प्रमाकरणम्' तो अवश्य घटित होगा। अतः यह एकवाक्यता भारतीय दार्शनिक परम्परा का महत्त्वपूर्ण घटक है।

न्यायसूत्र पर भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका, परिशुद्धि आदि के भेद से टीका-उपटीका की एक सुदीर्घ परम्परा है। उस पर दृष्टिपात करते हुए हम पाते हैं कि टीकाकारों ने उत्तरोत्तर प्रत्येक पद की विशद व्याख्या से अर्थ एवं अवधारणाओं के अनेक आयाम उन्मीलित किये हैं—

पूर्वपक्ष होता है कि षोडश पदार्थों की परिगणना में संशय आदि चतुर्दश पदार्थों का पृथग्वचन निरर्थक है। क्योंकि संशय आदि पदार्थों का यथासम्भव प्रमाण या प्रमेय समूह में अन्तर्भाव हो जायेगा। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा—'सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः त्रयी, दण्डनीति, वार्ता और आन्वीक्षिकी नामक इन चारों विद्याओं का अपना-अपना स्वतन्त्र प्रस्थान है। 'प्रस्थान' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा—प्रस्थानं व्यापारः। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने। उदयनाचार्य ने *तात्पर्यपरिशुद्धि* में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रपूर्वक स्था धातु से निष्पन्न प्रस्थान पद का अर्थ है—व्यापार। वर्धमान उपाध्याय *परिशुद्धि प्रकाश* में इसकी व्याख्या करते हैं—व्यापारो व्युत्पादनं तस्य धात्वर्थता, तद्विषयत्वं प्रत्ययार्थः। प्रस्थान शब्द के अन्तर्गत धातु और कर्मवाच्य प्रत्यय के रहने से इसका अर्थ होता है—

उक्त समस्त पदार्थों के प्रतिपादन रूप व्यापार का विषय इस विद्या का या शास्त्र का असाधारण प्रतिपादन है। इस प्रस्थान भेद से ही विद्याओं में भेद होता है। इनमें त्रयीविद्या का प्रस्थान है—अग्निहोत्र तथा होम आदि। कृषि आदि शास्त्ररूप वार्ता विद्या का प्रस्थान है—हल तथा शकट आदि। दण्डनीति का प्रस्थान है—राजा तथा अमात्य आदि। आन्वीक्षिकी का प्रस्थान है—संशय आदि चौदह पदार्थ। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दार्शनिक परम्परा एक-एक पद के विशिष्ट अर्थ का अन्वेषण करते हुए अवधारणाओं का विशदन करती

एक स्थान पर भाष्यकार कहते हैं—कः पुनरयं न्यायः? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । भाष्यकार वात्स्यायन ने 'प्रमाणैः' इस बहुवचनान्त पद से प्रमाणमूलक पञ्चावयव वाक्यों का ग्रहण किया है। अर्थात् पञ्चावयव वाक्यों में सभी प्रमाणों का व्यापार विद्यमान है। उद्द्योतकर ने इसकी पुष्टि करते हुए वार्तिक में कहा—समस्त प्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः। वाचस्पतिमिश्र ने भाष्य के 'अर्थ परीक्षा' पद की व्याख्या में कहा है—'अर्थस्य लिङ्गस्य परीक्षणं परीक्षा' प्रतिज्ञा आदि वाक्यों से अर्थ की अर्थात् हेतु की परीक्षा ही न्याय है। वादी किसी साध्य के साधन के लिए हेतु का ग्रहण कर अनुमान प्रदर्शित करता है और वह अनुमान ही हेतु की परीक्षा है। अर्थात् उससे निर्णीत होता है कि हेतु उस साध्य का साधक है।

प्रमाणों का प्रमेय में अभिसम्प्लव होता है अथवा अपने-अपने विषय में व्यवस्था होती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार ने कहा कि 'अभिसम्प्लव तथा व्यवस्था' दोनों ही प्रकार प्राप्त होते हैं। एक ही विषय में अनेक प्रमाणों का संकररूप प्रमाणसम्प्लव मान्य है और यह अनेक स्थलों में आवश्यक भी है। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के सम्वाद में बृहदारण्यक उपनिषद् में वचन है—

'आत्मा वाऽऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्य निदिध्यासितव्यः।' इस वचन से एक ही आत्मा के विषय में यथाक्रम शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष इन तीनों ही प्रमाणों से जन्य ज्ञान की कर्त्तव्यता उपदिष्ट हुई है। इसी के आधार पर भाष्यकार ने आत्मा के विषय में इस प्रकार के प्रमाणसम्प्लव का उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'अस्त्यात्मा' इस प्रकार आप्तोपदेश से जाना जाता है। आत्मा के विषय में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न....आदि

आत्मा के लिङ्ग हैं। युञ्जान योगी को आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। उपनिषद् के श्रुतिवाक्य के आधार पर प्रमाण सम्प्लव की व्याख्या की गई है और हम कह सकते हैं कि यह मौलिक व्याख्या है अर्थात् मूल से अनुप्राणित है।

व्याख्याविकल्प के माध्यम से व्याख्या—

भाष्यकारों ने एक ही लक्षण की एकाधिक व्याख्या की है। कहा भी गया है—

सर्वव्याख्याविकल्पानां द्वयमिष्टं प्रयोजनम् ।
पूर्वत्रापरितोषो वा विषयव्याप्तिरेव च।।

व्याख्याविकल्प के दो ही प्रयोजन हैं—पूर्वत्र व्याख्या से अपरितोष तथा विषय-व्याप्ति। इस प्रविधि से टीकाकारों ने विषय का अनेक कोणों से स्पष्टीकरण किया है। न्यायसूत्र में अनुमान प्रमाण का निरूपण करते हुए उसके त्रैविध्य का कथन किया गया है। पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट।

1. पूर्ववत्—यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते।

2. शेषवत्—तत्र यत्र कार्येण कारणमनुमीयते।

3. सामान्यतोदृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्रदर्शनमिति।

1. तदनन्तर अथवा पूर्ववत्—इति—यत्र यथापूर्व प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमोऽग्नेरिति। इस प्रकार 'पूर्ववत्' की यह पृथक्रीत्या व्याख्या है। इसी प्रकार 'शेषवत्' की व्याख्या करते हुए उसे परिशेषानुमान में पर्यवसित किया गया है। शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गम् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान वह है जहाँ अप्रत्यक्ष लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध में, लिङ्ग की समानता से अप्रत्यक्ष लिङ्गी की अनुमिति होती है। जैसे इच्छादि गुण हैं—प्रतिज्ञा गुण द्रव्याश्रित होते हैं। तो उनका जो स्थान है—वह आत्मा है।

इस प्रकार अनुमान के भेदों की द्विविध व्याख्या प्राप्त होती है और यह व्याख्या-विकल्प के माध्यम से सम्भव हुआ।

2. 'शास्त्रयोनित्वात्[3] एक सुप्रसिद्ध सूत्र है और यह सूत्र ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने इसके दो प्रकार से विग्रह कर दो भिन्न-भिन्न अर्थों का सन्धान किया है—

(i) महान् ऋग्वेदादि शास्त्र, जो कि अनेक विद्यास्थानों से विस्तार को प्राप्त है, प्रदीप के समान सम्पूर्ण अर्थों को प्रकाशित करने में समर्थ है, सर्वज्ञ के समान है, ऐसे शास्त्र का जो कारण है, वह ब्रह्म है। ऐसे

अद्भुत शास्त्र की रचना अस्मदादि सामान्य जन के द्वारा सम्भव नहीं हो सकती। अतः उस शास्त्र का जो रचनाकार है, वह ब्रह्म है।

(ii) द्वितीय व्याख्या करते हुए भाष्यकार शङ्कराचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त विशेषणों वाला ऋग्वेद आदि शास्त्र इस ब्रह्म के यथार्थस्वरूप के ज्ञान में योनि-कारण-प्रमाण है। शास्त्र प्रमाण से ही यह अधिगत होता है कि जगत् के जन्म आदि का कारण ब्रह्म है।

शास्त्रस्य योनिः कारणं बह्म तथा 'शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं अस्य ब्रह्मणः यथावत्स्वरूपाधिगमे' इन दो प्रकार की व्याख्याओं से आकारेण लघु सूत्र की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई। जो ऋग्वेदादि शास्त्र का (योनि) कारण है, वह ब्रह्म है।

व्याख्या विकल्प के अनेक चमत्कार भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में यथास्थान किये हैं। तथा न्यायसूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने कहा—

(i) 'हेयं तस्य निर्वर्तकं, हानमात्यन्तिकम्, तस्योपायो ऽधिगन्तव्यः। एतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यक् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।'[4]

हेय का अर्थ है दुःख। योगसूत्र में पतञ्जलि ने 'हेयं दुःखमनागतम्' कहा है। अनागत अर्थात् भविष्यत् काल के दुःख की निवृत्ति के कारण अविद्या, तृष्णादि भी हेय होते हैं।

(ii) हानमात्यन्तिकम्—इस पद का अर्थ है जिससे दुःख का त्याग या निवृत्ति हो आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति का कारण है—तत्त्वज्ञान।

(iii) तस्योपायः—उपायः शास्त्रम्, ऐसा वार्त्तिककार का मत है। शास्त्र के बिना तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है। अतः शास्त्र तत्त्वज्ञान का उपाय है। इस तत्त्वज्ञान का फल है—निःश्रेयस।

(iv) वही अधिगन्तव्य है। हेय, हान, उपाय तथा अधिगन्तव्य, इन चारों को भाष्यकार ने 'अर्थपद' शब्द से कहा है। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने 'अर्थपद' की व्याख्या भिन्नरीत्या की है। वे कहते हैं—'अर्थपदानि पुरुषार्थस्थानानि।'[5] यहाँ अर्थपद मुख्य प्रयोजन परमपुरुषार्थ अपवर्ग का वाचक है और पद का अर्थ है स्थान। उन चारों में अपवर्ग अधिष्ठित है।

इस प्रकार व्याख्या-विकल्प द्विविध प्रवृत्त होते हैं। (क) एक भाष्यकार ही अपनी व्याख्या में विकल्प प्रस्तुत करता है। (ख) और एक भाष्यकार जो व्याख्या करता है तो उत्तरवर्ती तात्पर्यटीकाकार अथवा परिशुद्धिकार अथवा वार्त्तिककार उसी पद/अवधारणा का भिन्न प्रकार से विशदन करते हैं।

व्याख्या विकल्प के अन्तर्गत हम हेतु-विकल्प पर भी दृष्टिपात कर सकते हैं। भाष्यकार एक प्रतिज्ञावाक्य को सिद्ध करने में एकाधिक हेतु प्रस्तुत करते हैं। वे हेतु-विकल्प प्रतिज्ञा वाक्य का विशदन करते हुए अवधारणा का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करते हैं—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में अथ का अर्थ 'आनन्तर्य' स्वीकार कर लिये जाने पर किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा की जाये? ऐसा प्रश्न होता है। वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है, यदि ऐसा कहा जाये तो यह पूर्वपक्ष धर्मजिज्ञासा के समान है अतः विशेष कहा जाना चाहिए। इस पर अन्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया—वेदाध्ययन-धर्मजिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा।

भाष्यकार शङ्कर कहते हैं- न तथेह क्रमो विवक्षितः—यह प्रतिज्ञावाक्य है। इसको पुष्ट करने में भाष्यकार ने हेतुत्रय उपस्थापित किये—

(क) शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात् ।

(ख) धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च।

(ग) चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च।[6]

क्रम की विवक्षा वहाँ होती है जहाँ शेषशेषिभाव सम्बन्ध हो अथवा अधिकृताधिकारभाव सम्बन्ध हो। परन्तु धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा में न तो शेषशेषिभाव सम्बन्ध है और न ही अधिकृताधिकारभावसम्बन्ध है।

द्वितीय हेतु है—धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा में फल तथा जिज्ञास्य का भेद होने से भी इन दोनों में क्रम विवक्षित नहीं है। तृतीय हेतु है कि धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा के प्रवर्तक वाक्यों में भेद होने से भी इनमें क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती है इस प्रकार भाष्यकारों ने व्याख्या-विकल्प तथा हेतु-विकल्प के माध्यम से भी तत्तत् प्रसङ्ग को विस्तारित किया है तथा विषय की व्यापकता का भी संधान किया है।

दार्शनिक अर्थान्तरन्यास

भाष्यकार तथा टीकाकार कतिपय सामान्य कथनों की रचना करते हैं जो कि तत्तत् विशेष प्रसङ्ग में घटित होते हैं। ऐसे सूत्रात्मक सामान्य कथन वस्तुतः दार्शनिक अर्थान्तरन्यास कहे जा सकते हैं।

आचार्य शङ्कर ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसी आशय के सूत्र रचते हैं—प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामाक्षिप्तत्वात्।[7] प्रधान का ग्रहण हो जाने पर तदपेक्षित अर्थों (पदार्थों) का स्वतः ही परिग्रहण हो जाता है। इस सामान्य कथन का 'विशेष' प्रस्तुत करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि ब्रह्म ही ज्ञान से प्राप्त करने के लिए इष्टतम होने से प्रधान है, जिज्ञासा के कर्मभूत उस प्रधान का परिग्रह होने पर जिन जिज्ञासितों के बिना ब्रह्म जिज्ञासित नहीं होता वे तो स्वतः ही आक्षिप्त हो जाते हैं उनके लिए पृथक् सूत्र अथवा कथन की आवश्यकता नहीं है।

भाष्यकारों का अनुभव सुविशद होता है। 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर का एक अद्भुत सामान्य कथन है—

यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, पाणिन्यादेशायैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके।[8]

जो जो शास्त्र विस्तारार्थ, जिस पुरुष से विरचित होता है वह (पुरुषविशेष) इस स्वकीय-रचित शास्त्र से अधिकतर विज्ञानवान् होता है, यह लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसका निदर्शन पाणिनि तथा उनके द्वारा रचित *अष्टाध्यायी* है। पाणिनि का व्याकरणज्ञान केवल उतना ही नहीं था जितना अष्टाध्यायी में निहित है। अपितु *अष्टाध्यायी* तो पाणिनि के ज्ञेय का एकदेशमात्र है, वे तो उससे कहीं अधिक व्याकरणज्ञान के आकर हैं। यह सामान्य कथन तथा विशेषकथन एकत्र ही प्रस्तुत कर दिये गये हैं। इसको उपलक्षण माना जा सकता है, तत्तत् आचार्य अथवा कवि अपने रचे गये ग्रन्थ में निहित ज्ञान से कहीं अधिक विद्वत्तासम्पन्न होता है।

संस्कार शब्द अत्यन्त साधारण होते हुए भी दार्शनिक सन्दर्भ में विशेषार्थक हो जाता है। संस्कार का लक्षण करते हुए भाष्यकार शङ्कर कहते हैं—संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा? तात्पर्य यह है कि संस्कार दो प्रकार से होता है—

1. गुणाधान के माध्यम से।

2. दोषापनयन के माध्यम से।

यह एक सामान्य कथन है जिसे हम किसी भी विशेष प्रसङ्ग में घटित कर सकते हैं।

भाष्यकार नञ् के प्रसङ्ग में भी सुस्पष्ट लक्षण करते हैं—'नश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्।[9] नञ् का यह स्वभाव होता है कि वह अपने सम्बन्धी के अभाव का ज्ञापन करवाता है और अभावबुद्धि औदासीन्य का कारण होती है।

तत्त्व किसे कहते हैं? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि—**सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः।**[10] 'सत् तथा असत् दोनों ही पदार्थ हैं। जो प्रमाण से सिद्ध नहीं होता उसे पदार्थ या तत्त्व नहीं कहा जा सकता है। जो प्रमाण भाव पदार्थ का प्रकाशन करता है वही प्रमाण अभाव पदार्थ का भी ज्ञापक होता है। जिस प्रकार दीपक भाव पदार्थों का प्रकाशक होता है, उसी प्रकार तदितर पदार्थों के अभाव का भी ज्ञापक होता है। भाष्यकार तत्त्व की व्याख्या में न्याय की शैली का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होते हैं।

न्यायसूत्र में भाष्यकार वात्स्यायन ने प्रथम सूत्र के अन्त में एक सूत्रात्मक वाक्य-प्रयोग किया 'तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमश्च यथाविधं वेदितव्यम् ।' सभी विद्याओं के तत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस भिन्न-भिन्न

होते हैं। यथाविधं वेदितव्यम् से तात्पर्य यह है कि मनु द्वारा जो चार प्रकार की विद्याओं को परिगणित किया गया है—त्रयी, वार्ता, दण्डनीति तथा आन्वीक्षिकी।

1. वेद विद्या का नाम त्रयी है। याग आदि का यथार्थ ज्ञान ही उस विद्या में तत्त्वज्ञान से अभिप्रेत है, स्वर्ग की प्राप्ति ही निःश्रेयस है।
2. कृषि आदि शास्त्र का नाम वार्ता है। भूमि आदि विषयक यथार्थज्ञान ही उस शास्त्र का तत्त्वज्ञान है और कृषि तथा वाणिज्य से उत्पन्न लाभ ही वहाँ निश्रेयस है।
3. दण्डनीति शास्त्र में देश, काल तथा पात्र के अनुसार साम, दाम, दण्ड और भेद के प्रयोग का ज्ञान तत्त्वज्ञान होता है तथा राज्यादि की प्राप्ति इस शास्त्र का निःश्रेयस होता है।

प्रत्येक विद्या के प्रतिपाद्य समूह के स्वभाव की पर्यालोचना से इन विद्याओं के भिन्न-भिन्न तत्त्वज्ञानों एवं निःश्रेयस का परिज्ञान हो सकता है। भाष्य में प्रयुक्त 'यथाविधं वेदितव्यम्' का इतना विशद अर्थ है और तत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस आपेक्षिक पारिभाषिक शब्दावली के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—'सूत्रं च बह्वर्थसूचनाद् भवति।' सूत्र अनेक अर्थों का सूचक होता है।

'यथाविधं वेदितव्यम्' यह सूत्रांश नहीं है अपितु भाष्यांश है। भाष्यकार अथवा टीकाकार भी अनेक सूत्रों का प्रयोग करते हैं जिसे तदुत्तरवर्ती टीकाकार स्पष्ट करते हैं और यही कारण है कि भाष्यकार के पश्चात् वार्तिककार तात्पर्यटीकाकार, परिशुद्धिकार आदि की सुदीर्घ परम्परा ने उत्तरोत्तर अर्थ का स्पष्टीकरण एवं विशदन किया।

पारिभाषिक पदों की विशेष व्याख्या

प्रत्येक विषय के कतिपय विशिष्ट शब्द अथवा पद होते हैं जो केवल उस विषय-विशेष में ही प्रधानतया उपलब्ध होते हैं तथा विशेष अर्थ का सम्प्रेषण करते हैं। भाष्यकार इस प्रकार के पारिभाषिक पदों (Technical Terms) की व्याख्या अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करते हैं। न्याय दर्शन का पारिभाषिक शब्द है—व्याप्ति । व्याप्ति के अनेकविध लक्षण हमें न्याय दर्शन में प्राप्त होते हैं। परन्तु आचार्य वरदराज 'व्याप्ति' की अत्यन्त सुगम व्याख्या करते हुए कहते हैं—

यद्धि येन नियम्यते तस्य तेन विनानुत्पत्तिः नान्यस्य तथा येन तन्नियम्यते, तदेव तस्योपपादकं नान्यत्, नियमश्च व्याप्तिरेव।[11] जो जिसके द्वारा नियमित किया जाये तथा नियामक के बिना जिसकी उपपत्ति न हो जिसके द्वारा जो नियमित किया जाता है वही उसका उपपादक होता है, अन्य नहीं, यही व्याप्ति है। व्याप्ति की ऐसी सरल व्याख्या करते हुए टीकाकार भी वस्तुतः मूल ग्रन्थ-सूचना का ही निर्माण करते हुए प्रतीत होते हैं।

अवान्तर व्यापार की संक्षिप्त तथा सरल परिभाषा करते हुए कहा—न हि यद् येन जन्यते तत्सर्वं तस्य व्यापारः, किन्तु येन विना यस्य यदुत्पादनं न सम्भवति स एव तस्य कारणस्य, तस्मिन् कार्ये जनयित्वेऽवान्तरव्यापारः ।।[12]

जिसके बिना जिस वस्तु का उत्पादन सम्भव नहीं होता, वही उस कारण का अथवा उस उस कार्य की उत्पत्ति में अवान्तर व्यापार होता है। यद्यपि अवान्तर व्यापार अत्यन्त सरल पारिभाषिक शब्द है तथापि लक्षण में भी उसको उसी सरल शब्दावली में प्रस्तुत करना वस्तुतः एक दार्शनिक कला है, जिसमें भाष्यकार तथा टीकाकार सिद्धहस्त हैं। यह भाष्य अथवा टीकापद्धति वस्तुतः किसी भी प्रकार की शोध-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण घटक है।

साधर्म्य तथा वैधर्म्यपूर्वक प्रस्थापना

भाष्यकार अथवा टीकाकारों ने केवल प्रतिपद टीका मात्र की रचना नहीं की अपितु टीकाओं के सूक्ष्म आलोडन से यह ज्ञात होता है कि वे साधर्म्य तथा वैधर्म्य प्रदर्शन द्वारा अर्थविस्तार करते हुए सर्वथा चमत्कृत कर देते हैं। उदयनाचार्य न्याय दर्शन के उद्भट आचार्य हैं। उनके द्वारा रचा गया '*न्यायकुसुमाञ्जलि*' नामक प्रकरण ग्रन्थ ईश्वर की तर्कपूर्ण उपस्थापना करता है। उस पर तार्किकरक्षाकार वरदराज के द्वारा '*बोधनी*' नामक टीका की रचना की गई।

ईश्वरसाधक हेतुओं में आचार्य ने सत्प्रतिपक्ष दोषनिवारणार्थ 'विम्लानो न विमर्दने' अंश प्रयुक्त किया। बोधनीकार ने इस प्रसङ्ग में न्याय का प्रसूनाञ्जलि से साधर्म्य-वैधर्म्य प्रदर्शित करते हुए कहा—

> **'प्रतिप्रमाणैः प्रतितर्कैश्च विमर्दने पीडने सति न म्लायति न दूष्यते, तेषां हीनाङ्गत्वेन दुर्बलत्वादिति भावः।'**[13]

न्याय, विरुद्ध प्रमाणों तथा तर्कों के उपस्थित होने पर भी खण्डित नहीं होता। यदि प्रसूनाञ्जलि के पक्ष में अर्थ करें तो करयुगल से विमर्दित किये जाने पर भी जो म्लान नहीं होती। इस प्रकार न्याय तथा प्रसूनाञ्जलि का साधर्म्य स्पष्ट है।

साधर्म्य-कथन के पश्चात् प्रसूनाञ्जलि से न्याय का वैधर्म्य प्रतिपादित करते हुए वरदराज ने बोधनी में कहा—'.....न्यायस्य तद्वैधघूमनेन प्रदर्श्यते यथा विमर्दने सति पुष्पाञ्जलिर्म्लाययति नायं तथेति।'[14]

पुष्पाञ्जलि तो मर्दन किये जाने पर म्लान हो जाती है जबकि न्याय इस प्रकार का नहीं है। न्याय कुतर्को तथा प्रमाणाभासों से अस्पृष्ट नहीं रहता है। प्रसूनाञ्जलि और न्याय में यही वैधर्म्य है।

साधर्म्य तथा वैधर्म्य प्रदर्शन से पदार्थ अथवा अवधारणा का सविशद निरूपण प्राप्त होता है। यह शोध-प्रविधि की महत्त्वपूर्ण शैली के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। भाष्यकारों ने अनेकत्र इस साधन से अर्थविस्तार का आधान कराया है।

भाष्यकारों की परम्परा शोध के महत्त्वपूर्ण आयाम स्थापित करते हुए 'नातिसंक्षेपतया नातिविस्तीर्णतया' नियम की व्याख्या करती है। न्यायसूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं' पद का प्रयोग किया। भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया कि 'न तर्हीदानीमिदं भवति।

आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन इति।' केवल एक सोपान ही उपयुक्त नहीं है अपितु आत्मा का मन से संयोग, मन का इन्द्रिय से संयोग और तदनन्तर इन्द्रियों का पदार्थ से संयोग होता है। अर्थात् 'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण' ये पूर्ववर्ती दो सोपान हैं, जिन्हें सूत्र में नहीं कहा गया। जबकि इन दो पूर्ववर्ती अवस्थाओं के अभाव में उत्तरवर्ती अवस्था सम्भव ही नहीं है।

भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रदान किया है। आत्ममनः संयोग तथा मनस् इन्द्रिय संयोग ये दोनों अनुमानादि में समान रूप से घटित होते हैं। प्रत्यक्ष का जो विशिष्ट कारण है केवल वही प्रत्यक्ष लक्षण में कहना अभीष्ट है। इस पूरे प्रसङ्ग का निहितार्थ यह है कि जो जिस अवधारणा का विशेष कथनीय हो, वही सूत्रकार अथवा भाष्यकार का विवक्षित होता है। जो अन्य अवधारणाओं के साथ सामान्य होता है उसका विस्तारभय से कथन न करना तथा निषेध भी न करना यह शोध-प्रविधि का कर्त्तव्य बिन्दु है।

दार्शनिक पदावली में कल्पना गौरव तथा कल्पना लाघव पद प्रचलित हैं। यहाँ भाष्यकार ने कल्पनागौरव का निषेध किया है। समर्थानल्प कल्पना वस्तुतः एक प्रकार का दोष ही है। अतः भाष्यकार इसका केवल सिद्धान्त ही प्रतिपादित नहीं करते अपितु प्रयोग भी प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रकार भाष्यकार शङ्कर *ब्रह्मसूत्र* में 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र पर भाष्य-रचना करते हुए कहते हैं—'न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पना-प्रसङ्गात्।।'[16]

वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मस्वरूप में समन्वय जान लेने पर अर्थान्तरकल्पना युक्तियुक्त नहीं है। इससे श्रुतहानि होगी, श्रुति में ब्रह्मस्वरूप ही मुख्यरूप से प्रतिपादित है। इस सुव्यवस्थित अवधारणा की हानि हो जायेगी जो कि अभीष्ट नहीं है और अश्रुत कल्पना का प्रसङ्ग होगा, वह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अश्रुत-श्रुति-अप्रतिपादित यागादि क्रिया की कल्पना करनी पड़ेगी।

श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना नामक दोषद्वय से अवधारणा अथवा सिद्धान्त सर्वथा सुरक्षित होने चाहिए। दार्शनिक परम्परा में प्रमाण-व्यवस्था, तत्त्वमीमांसा तथा नीति-शास्त्र में एकवाक्यता को अङ्गीकार किया जाता है। यदि तत्त्व मीमांसा में पूर्वपक्षी के मन्तव्य के आधार पर परिवर्तन कर दिया जाये तो प्रमाणव्यवस्था तथा नीतिशास्त्र बाधित हो जायेंगे। यदि दार्शनिक अभाणक में कहें तो यही कहा जायेगा कि इससे श्रुतहानि तथा अश्रुत कल्पनाप्रसङ्गरूप दोष होगा। ये दोनों दोष सर्वथा तथा सर्वत्र परिहरणीय हैं। प्रकारान्तर से भाष्यकार इन दोनों दोषों के कथन से शोधार्थियों को शोध-सूत्र ही प्रदान करते हुए प्रतीत होते

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' सूत्र में 'अशब्दम्' का अर्थ श्रुति अप्रतिपादित होने के कारण जड़ प्रधान को जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता है।

श्रुतहानि तथा अश्रुतकल्पनाप्रसङ्ग केवल दार्शनिक शास्त्रों में ही घटित नहीं होते अपितु प्रत्येक शास्त्र अथवा शाखा में श्रुतहानि एवं अश्रुतकल्पनाप्रसङ्ग अस्वीकार्य ही होते हैं।

श्रुति तथा स्मृति—ये दोनों समान रूप से प्रमाण रूप में उद्धृत की जाती हैं। ब्रह्मसूत्र में 'नानुमानमतच्छब्दात्'[17] (सांख्यशास्त्र में कल्पित प्रधान) द्यु, भू आदि का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि (अतच्छब्दात्) श्रुति में प्रधान-प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है। 'स्मृतेश्च'[18] (ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।) इस स्मृति से भी जीव और ब्रह्म का भेद दिखलाया गया है, अतः ब्रह्म ही उपास्य है। 'श्रुतत्वाच्च श्रुति में भी स्वशब्द से सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण कहा गया है। इस प्रकार श्रुति-प्रतिपादित का ही अर्थ-गौरव अभीष्ट है न कि तदितर का।

यद्यपि एक पूर्वपक्ष यह भी हो सकता है कि श्रुतहानि का परिहार ही करते रहेंगे और अश्रुतकल्पना को भी यदि स्वीकार नहीं किया जाएगा तो नूतन अवधारणा अथवा सिद्धान्त का अवतरण कैसे होगा? क्या ये दोनों दोष भावी-परम्परा के अवरोधक नहीं हो जायेंगे?

इस पूर्वपक्ष का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि हमारी परम्परा नूतनता का विरोध नहीं करती है। प्रत्येक सिद्धान्त मौलिक होना चाहिए। मौलिक का अर्थ है मूल से सम्बद्ध। जो भी नूतन सिद्धान्त स्थापना की जाए उससे मूल (वेदार्थ) पुष्ट होना चाहिए। जो मूल को छिन्न-भिन्न कर दे ऐसी नूतनता स्वीकार्य नहीं है।

भाष्यकारों का पदविश्लेषण व्याकरणाधारित

भाष्यकारों तथा टीकाकारों ने सूत्रों तथा पूर्वज आचार्यों के भाष्य, वार्तिक, टीका आदि पर टिप्पणी करते हुए प्रायः प्रत्येक पद का व्याकरणात्मक विवेचन कर अर्थ की विशद व्याख्या की है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में स्थित 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का विग्रह किया गया –

'ब्रह्मणः जिज्ञासा' में कर्मणि षष्ठी है न कि सम्बन्ध सामान्य (शेषे) में षष्ठी है। पूर्वपक्ष है कि सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी स्वीकार करनी चाहिए। जबकि उत्तर पक्ष के अनुसार ब्रह्म ही जिज्ञासा का कर्म है। उस कर्मभूत प्रधान का ग्रहण होने पर जिन जिज्ञासितों के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता उनका स्वतः ही ग्रहण हो जाता है। 'कर्मणि षष्ठी' तथा 'शेषे षष्ठी' का विशद विवेचन कर 'कर्मणि षष्ठी' की सोपपत्तिक स्वीकार्यता प्रतिपादित की।

न्यायसूत्र पर भाष्यरचना करते हुए भाष्यकार ने 'प्रमाणप्रमेयसंशय..... तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' इस सूत्रस्थ पदों का व्याकरण के आधार पर अर्थ स्पष्ट किया—'निर्देशे यथावचनं विग्रहः। सर्वपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः समासः प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानं, निःश्रेयसस्याधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यो।'[20]

भाष्यकार वात्स्यायन ने प्रथमसूत्र में द्वन्द्वसमास को स्वीकार किया है क्योंकि द्वन्द्वसमास में प्रत्येक पदार्थ प्रधान होता है। यदि इसमें बहुव्रीहि या कर्मधारय माना जाये तो अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकेगी। द्वन्द्व समास मानने पर इसका विग्रहवाक्य कैसे होगा? सभी पदों में बहुवचनान्त अथवा एकवचनान्त प्रयोग किया जायेगा? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा'निर्देशे यथावचनं विग्रहः' प्रमाण आदि पदार्थों के निर्देशक सूत्रों में प्रत्येक पदार्थ के वचन का जैसा निर्देश किया गया, वैसा ही विग्रहवचन किया जाएगा।

जैसे प्रमाण के विभाग सूत्र में 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' 'प्रमाणानि' पद का प्रयोग किया गया है अतः प्रथम सूत्र में प्रमाण पद का विग्रह 'प्रमाणानि' होगा। प्रमेय के विभाग सूत्र मे 'प्रमेयम्' पद का प्रयोग हुआ है, अतः विग्रहवचन में एकवचनान्त प्रमेयम् का प्रयोग होगा। अन्य पदार्थों के सन्दर्भ में भी इसी प्रविधि को घटित करना चाहिए।

सूत्र में 'प्रमाण.....निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात्' इस वाक्य में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सम्बन्ध सामान्य में किया गया है। 'षष्ठी शेषे' सूत्र के द्वारा सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी विभक्ति का विधान होता है। कर्तृत्व तथा कर्मत्व आदि छः प्रकार के कारकों से भिन्न केवल सम्बन्ध का बोधक शेष पद हैं अतः सम्बन्ध बोधक षष्ठी को शैषिकी षष्ठी कहते हैं। तत्त्वज्ञान में तत्त्वस्य ज्ञान में तत्त्व पद के प्रमाणादि पदों के साथ सापेक्ष रहने पर भी 'तत्त्वस्य ज्ञानम्' ऐसा विग्रह करके तत्पुरुष समास करने में कोई बाधा नहीं है। भाष्यकार ने 'तत्त्वस्य ज्ञानम्' तथा 'निःश्रेयसस्याधिगमः' इन दोनों विग्रहों में षष्ठी विभक्ति का अर्थ कर्म माना है। क्योंकि ज्ञान का कर्मकारक है तत्त्व और अधिगम का कर्मकारक है निःश्रेयस। अतः कर्मणि षष्ठी से ही अर्थसंगति हो रही है।

दार्शनिकता लोकानुप्राणित

भाष्यकार तथा टीकाकार दार्शनिक अवधारणाओं तथा सिद्धान्तों की व्याख्या लोक के उदाहरणों से पुष्ट करते हैं। केवल भाष्यकार ही ऐसा करते हैं, यह नहीं है सूत्रकार बादरायण व्यास तो *ब्रह्मसूत्रों* में दार्शनिकता तथा लोक को हमेशा साथ रखते हैं—गुणाद्वा लोकवत् ।[21]

जैसे लोक में घर के एक कोने में रखे हुए दीपक की प्रभा गृहव्यापी होती है, उसी प्रकार आत्मा के अणु होने पर भी आत्मनिष्ठ चैतन्यगुण को व्यापक माना जाता है। सूत्रकार भी आत्मा के चैतन्य की व्यापकता को लौकिक दृष्टान्त से व्याख्यायित करते हैं।

भाष्यकार शङ्कर भी कहते हैं—तस्माद्यथा लोके दृष्टं तत्तथैवानुमन्तव्यं निरूपकैर्नान्यथा। नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत। इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वव्यैवोपलभ्येरन् इति नियन्तुं शक्यते।[22] जो जैसे लोक में देखा गया है, उसका उसके अनुसार ही निरूपकों से अनुमान करना चाहिए अन्यथा नहीं। रस गुण जिह्वा से ग्रहण होता है, तो इससे रूप आदि गुण भी जिह्वा से ही उपलब्ध हों, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है।

सूत्रकार ने लोक को अनेकत्र उद्धृत किया है—'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्।'[23] आकाश उत्पन्न नहीं होता, सामग्रीशून्यता के कारण। इस पूर्वपक्ष पर ब्रह्मसूत्रकार कहते हैं कि जो कुछ घट, घटिका अथवा कटक, केयूर, कुण्डलादि समूह देखे जाते हैं, वे सभी कार्य हैं क्योंकि उन सबका विभाग है और विभक्त होने से वे सब कार्य हैं। इन लौकिक पदार्थों के समान आकाश भी विभक्त होने से कार्य है। सूत्रकार के द्वारा प्रयुक्त किये लोकवत् पद को भाष्यकार शङ्कर भी विशदता से विवेचित करते हैं। लोक में प्राप्त उदाहरण को प्रस्तुत करके ही अलौकिक सृष्टि परम्परा को व्याख्यायित किया जा सकता है।

'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर ने जन्म के आदि में कथन के हेतुद्वय का कथन किया—'जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च।' जन्मादि पद से तात्पर्य है जन्म, स्थिति तथा प्रलय। जन्म को आदि में क्यों रखा गया? यह स्वाभाविक प्रश्न हो सकता है। भाष्यकार कहते हैं— श्रुतिनिर्देश के कारण तथा लोक में वस्तुवृत्त की अपेक्षा से भी जन्म का अध्यास की प्रक्रिया वार आदिकथन किया गया है। लोक में भी हम देखते हैं कि पदार्थ पूर्व में जन्म लेता है तदनन्तर सत्ता को प्राप्त करता है, तब अन्त में विनष्ट होता है। अतः जन्म-स्थिति तथा प्रलय का क्रम श्रुतिनिर्देश और वस्तुवृत्त दोनों की अपेक्षा से निर्धारित किया गया है।

अध्याय की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए आचार्य शङ्कर ने एक पूर्वपक्ष के समाधानार्थ कहा- पश्वादिभिश्चाविशेषात्।[24] जैसे पशु अनुकूल के प्रति प्रवृत्त होते हैं और प्रतिकूल से निवृत्त होते हैं, उसी प्रकार लोकव्यवहार में भी हम देखते हैं कि विवेकी पुरुषों का भी व्यवहार तत्समान ही होता है। अतः पुरुषों का भी प्रमाण प्रमेय व्यवहार पश्वादि के समान ही है। अध्यास-भाष्य में तो विशेषरूपेण आचार्य शङ्कर लोक को पुनः पुनः उद्धृत करते हैं—

तथा च लोकेऽनुभवः - 'शुक्तिका हि रजतवदवभासते एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति।।[25] एक पदार्थ में तदितर का आरोप तो लोक में भी देखा जाता है। जैसे कि शुक्तिका रजत के समान प्रतीत होती है। एक ही चन्द्रमा जलादि में प्रतिबिम्बित होने के कारण दो के समान दिखाई देता है।

भारतीय दर्शन के पल्लवन में टीकाकारों तथा भाष्यकारों की शोध-पद्धति का अनुपम प्रदेय है। भाष्यकारों ने शोध-प्रविधि की सैद्धान्तिकी का कहीं भी उल्लेख नहीं किया अपितु अपने टीका तथा भाष्य-ग्रन्थों में अनुसन्धान के अनेक प्रयोग प्रदान किये। यदि सूक्ष्मेक्षिकया इन टीका-ग्रन्थों का अध्ययन किया जाये तो भाष्यकारों के भाष्यों अथवा टीकाओं में से

शोध-प्रविधि के सूत्रों का अन्वेषण किया जा सकता है। शोध का लक्षण क्या है? अथवा शोध-प्रविधि कितने प्रकार की हो सकती है? ऐसे केवल रूक्ष सिद्धान्तों की सर्जना हमारे दार्शनिकों ने नहीं की है अपितु अपने ग्रन्थों में टीका/भाष्य-रचना करते हुए उसके साथ ही प्रकारान्तर से शोध-प्रविधि के भी अनेक सूत्र व्याख्यायित कर दिये। ये समस्त सूत्र हमें दार्शनिक भाष्यों तथा टीकाओं में पदे-पदे प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ

1 *ब्रह्मसूत्र*, 1/1/1

2 *भामती*, पृ. 60

3 *ब्रह्मसूत्र* 1/1/3

4 *न्यायभाष्य*, 1/1/1

5 *तात्पर्यटीका*, 1/1/1

6 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/1/1

7 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/1/1

8 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/1/3

9 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/1/4

10 *न्यायसूत्र*, 1/1/1

11 *न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी*, पृ. 419

12 *न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी*, पृ. 443

13 *न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी*, पृ. 5

14 *न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी*, पृ. 5

15 नेदं कारणावधारणमेतावत् प्रत्यक्षे कारणमिति किन्तु विशिष्टकारणावधारणमिति। यत्तु प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते। .....*न्यायभाष्य*, 1/1/4

16 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/1/4, पृ. 51

17 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/3/1/3

18 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/2/1/6

19 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 1/1/5/12

20 *न्यायभाष्य*, पृ. 85

21 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 2/3/13/25

22 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 2/3/13/26

23 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, 2/3/1/7

24 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, पृ. 14

25 *ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य*, पृ. 9

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर-342001 (राजस्थान)।
ईमेल- saroj.kaushal64@gmail.com
चलवाणी- 9928024824

आगमतन्त्रस्य सामान्यपरिचयः

प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेयः

भारतीयचिन्तनसाधनाभ्यां द्वौ आधारभूतौ स्रोतौ स्तः, यत् निगमः आगमश्च तन्त्रं वा नाम्ना प्रसिद्धौ स्तः। द्वयोरेव परम्परयोः भक्तिज्ञानोपासनानां च स्रोतस्विनी अनादिकालतः अविच्छिन्नरूपेण प्रवहति। अद्यापि तया एव साधनालोकः नूतनतामवाप्नोति प्राप्नोति च। महाभारतमुद्घोषयति यत् श्रुतिप्रतिपादितप्रमाणानां विचारेण तथा च आगमशास्त्रेषु विहितानां मङ्गलसाधनानाञ्च अनुष्ठानेन मानवः जरामृत्युभयादभीतः शयनं करोति।[1]

आगमनिगमयोः द्वयोः शब्दयोः व्याख्या भारतीयशास्त्राणि अर्वाचीननृतत्त्व-शास्त्राणि च स्वमतानुसारिभिः कुर्वन्ति। किन्तु शब्दभेदादपि तदर्थे साम्यत्वं प्रतीयते। शास्त्रदृष्टया निगमः कूटस्थब्रह्मणः शुद्ध-विद्या तथा च आगम अधः स्थिता पृथ्वी-विद्या। पृथ्वी-विद्या-इयमेव प्रकृतिः, नृतत्त्वभाषायां लोकविद्या चास्ति। निगमस्य केन्द्रं ब्रह्मप्रतीकं सूर्यमस्ति, आगमस्य केन्द्र पृथ्वी च, या प्रकृतेः लोकजीवनस्य वा प्रतीकम्। व्यवहारे विशुद्धरूपेण निगम आगमो वा न प्राप्यते। यत् प्राप्यते तद्धि निगमागमः। उपनिषत्सु निगमतत्त्वस्य ब्रह्मविद्यायाः वा प्राधान्यं, तन्त्रप्रन्थेषु आगमतत्त्वस्य पृथ्वीतत्त्वस्य लोकतत्त्वस्य वा प्राधान्यम्। मूलतः निगमस्य आध्यात्मविद्यां आगम एव विज्ञानीकरोति।[2] वस्तुतः नैगमिकी या आध्यात्मविद्या तां विद्यां वैज्ञानिकी रूपाधाने आगम एवं श्रेयभाग् भवति।

संस्कृतवाङ्मयेषु 'आगम' इति शब्दस्य प्रयोगो विविधार्थेषु प्राप्यते। यद्यपि तेषु अर्थेषु विरोधः सत्यपि प्राय ऐक्यमेव। 'आगम' शब्दः 'आ' उपसर्गेण गम् धातोः सम्पद्यते, व्युत्पत्तिर्यस्य 'आ' समन्तादर्थ गमयतीति 'आगमः'। निगमोऽपि 'नि' उपसर्गेण सह 'गम्' धातोः निष्पन्नो जातः, यस्य व्युत्पत्तिः निःशेषेणार्थं गमयतीति निगमः। द्वयोरेवार्थः कस्यचिद् ज्ञानस्य पूर्णाभिव्यक्तिः। गम् धातुः गत्यर्थकं ज्ञानार्थकञ्च तथाहि—'ये गत्यर्थाः धातवः ते ज्ञानार्थाः।'[3] 'आ' उपसर्गस्यार्थः 'पूर्णता' अस्ति। अनेन प्रकारेण 'आगम' शब्दस्यार्थोऽस्ति पूर्णज्ञानं पवित्रज्ञानं स्वतः स्फूर्तज्ञानं विमलज्ञानं निराकुलज्ञानं गुह्याद्गुह्यतरज्ञानं शिवज्ञानं दिव्यशास्त्रं अवबोधरूपज्ञानं सिद्धान्त इत्यादि[4] अनेन प्रकारेण आगमशास्त्रेण निःशेषं ज्ञायते। वाचस्पतिमिश्रमहाभागाः स्वतत्त्ववैशारद्यां प्रतिपादितवन्तः यत् मानवाः कथं लोकेऽस्मिन् सुखं लभन्तः मोक्षं प्राप्यन्ते[5] इति आगमज्ञाने सुनिर्दिष्टमस्ति। उपासकाध्ययने 'आगम' शब्दं परिभाषयति- हेयोपादेय-रूपेण धर्मादीनां चतुर्वर्गाणां समाश्रयात् कालिकार्थान् बोध्यते, या विद्या सैवागमः विद्यागमः।[6]

कुल्लूकभट्टेन मनुस्मृतेर्टीकायां श्रुतिर्द्विधा प्रतिपादितम्- वैदिकीश्रुतिः तान्त्रिकीश्रुतिश्च।[7] टीकाकार-मतानुसारेण श्रुतिमूलको निगमागमौ। मनुमहोदयेन श्रुतेरर्थः वेदः स्वीक्रियते[8] वेदैव श्रुति अतः आगमस्य मौलिकता वेदैरेव। उभौ अनादिः उभयोः कर्तुः स्मरणं न।

कर्त्तोः

निगमं परिभाषयन् करपात्रीमहाभागेन उक्तं- 'सम्प्रदायाविच्छिन्ने सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं निगमत्वम्' अभिप्रायोऽयम् अनादिकालतः अनवरतरूपेण यस्य ज्ञानस्य परम्परा प्रवहति तथा च यस्य कर्तुः स्मरणं नास्ति स निगमः।[9] केनचिद् परिवर्तनेन आगमानां परम्पराऽपि अविच्छिन्ना। परञ्च अस्य कर्तुः विषये वैविध्यम्। नैय्यायिकाः पुरुषसामान्येन वेदानामुत्पत्ति न मन्यन्ते असम्भवात् तथा च ईश्वरोत्पन्नं मन्यन्ते। 'पुरुष' शब्दस्यार्थम् अलौकिकं पुरुषं सर्वशक्तिमन्तमिश्वरं वा कुर्वन्ति।

अनेन प्रकारेण निगमागमौ परमेश्वरकृतौ। *ईश्वरसंहितायामपि* प्रतिपादितमिदं यत् वेदमिव आगमस्य मूलम्। *ईश्वरसंहितायान्तु* अर्धनकार इदमपि कथितं यत् वेदवृक्षस्य मूलमिदम् ऋगादयः अस्य शाखाः।[10] *पौष्करसंहिताया* इदमागमम् इतिहासपुराणवेदवेदान्तादिभिः युक्तम् इति मन्यते।

ध्यातव्यमिदं यत् निगमोत्पत्तिः आगमात् न अपि त्वत्र 'मूल' शब्दस्य अभिप्रायः वेदानां क्रियात्मक-रूपमस्ति। अर्थात् आगमं बिना निगमस्य व्यवहारत्वं ना *कुलार्णवतन्त्रे* उक्तमिदं यत् कृतयुगे आचारबोधिकामूलश्रुतिरेव तथा त्रेतायां स्मृतिः द्वापरे 'पुराणं' कलियुगे 'आगमाः' प्रतिपादिताः।[11] अनेन स्पष्टमिदं यत् सिद्धान्तव्यवहारौ युगपत् गच्छतः। यतो हि शून्यं सिद्धान्तम् उपयुक्तं न भवति। भर्तृहरिणा आगमस्य बीजं वेदेषु मन्यते।[12] उक्तं तेन पूर्वागमानामुच्छिन्ने सति वेदेषु एव बीजरूपेण सन्निविष्टत्वात् तदनुसारेणैव आगमानां निबन्धनं भवति। अतः आगमानां नैरन्तर्यादेव अनादिता सिद्धिः भवति। आगमस्य मौलिकार्थमस्ति परम्पराप्राप्तः, परम्परायाः स्रोतः वेदो निगमो वाऽस्ति। गुरु-शिष्यपरम्परया या शिष्टपरम्परा अविच्छिन्नरूपेण प्रवहति, सैव आगमः। *वाक्यपदीयस्य* टीकाकारेण वृषभदेवेन एतत्प्रकारेण प्रतिपादितं 'यो असौ शिष्टानामविच्छिन्नः उपदेशः'[13] इत्यनेन पूर्वोक्तस्यैव दार्ढ्यं प्रतिपादितं पुनश्च वाक्यपदीयकारेण इदं दृढतया प्रतिपादितं यत्-आगमव्यतिरिक्ततर्केण एव धर्मस्य व्यवस्था भवितुं न अर्हति। यतो हि ऋषीणां ज्ञानमपि आगमादेव ।[14]

वेदेषु 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' 'स्वर्गकामो यजेत ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' आदिवाक्यानि मन्त्रद्रष्टृभ्यः प्रणितानि सन्ति। एतानि वाक्यानि दृष्ट्वा स्पष्टं जातं यत् 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' वाक्यतः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' पर्यन्तं कोऽपि कथं ज्ञायेत्। एतत् जिज्ञासा भवति। एतस्याः जिज्ञासायाः यजेत् इति क्रियापदं स्पष्टं करोति। भावनाद्वयेन समन्वितं अस्य शब्दस्य कृते द्रव्यदेवतामन्त्रविधयः अपेक्षिताः। अत्र विधयः अपि साधकानां वार्षीणां प्रयोगविज्ञानादेव सिद्धाः। यथा वैज्ञानिकाः H_2O माध्यमेन जलं चिह्नीकरोति वा विधायिका स्वनिर्मितविधिपालनार्थं नियमोपनियमान् करोति, तेनैव प्रकारेण साधकाः ऋषयः स्वानुभूतस्वर्गकामनायाः

सत्याभिव्यक्त्यर्थं द्रव्यदेवतादीनां अनुभूतप्रतिपादनमकुर्वन्। अनेन प्रकारेण यथा मन्त्रद्रष्टारः ब्रह्माण्डव्याप्तं नित्यमन्त्राणां साक्षात्कारमकुर्वन् तथा एव तस्य प्रयोगस्य अभ्यासमपि तथा तस्य प्रयोगात्मक स्वरूपं स्थिरीकृतवान्। मूलतः एष एव आगमः। अर्थात् निगमः सिद्धान्तपक्षः, आगम: तस्य क्रियात्मकं स्वरूपमस्ति। वैविध्यं एतदेवास्ति आगमरूपदृष्टज्ञानस्य क्रियात्मकस्वरूपस्य प्रतिपादन केनापि कृतवन्तं मन्यते, निगमः क्रियात्मकस्वरूपरहितं दृष्टज्ञानाभिव्यक्तिः।

देवसूरिः *स्वप्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कारे* आगमं परिभाषयन् वदति 'आप्तवचनाद् आविभूतमर्थ-संवेदनमागमः।[15] अर्थात् केनचित् पुरुषेण अर्थविशेषस्य परिज्ञानकारक-ज्ञानस्य नाम आगमः। अत्राप्तपुरुषस्य अभिप्राय: स्वदृष्टज्ञानोपदेशक: यतोहि सांख्यसप्ततेर्जयमागमस्य मौलिकम्।

मङ्गलाटीकायां कथितमस्ति यत् रागद्वेषादिरहितः स्वकर्मसु यतमानः अजातशत्रुः सद्भिः पूजितः एव आप्तः।[16] 'अत्र स्वकर्मणाभियुक्तः शब्दः महायानबौद्धधर्मस्य 'महायानकोविदम्' विशेषणभूषितं कल्याणमित्रमिव। *चरकसंहितायां* उक्त-'येषां सर्वविषयेषु तर्करहितं निश्चयात्मकं ज्ञानमस्ति, ये त्रिकालदर्शी येषां स्मरणशक्ति कदापि न भ्रंश्यते ये रागद्वेषविवर्जिताः, पक्षपातशून्याः त एव आप्तपुरुषाः।[17] अनेन वाक्येन स्पष्टं जायते यत् निगमस्य व्यवहार पक्ष एव आगमो नाम।

मन्यतेऽयम् यत् वेदाः अपौरुषेयाः आगमाः पौरुषेयाः वा। पुरुषाणां प्रवृत्तिरस्ति यद् ऋजुमार्गेण स्वलक्ष्य प्राप्तुम् इच्छन्ति।[18] अतः यदा-कदा स दृष्टरूपेण वेदविरुद्धमपि याति। साधकः नैरन्तर्याभ्यासेन स्वयमेव समाधीयते। अस्यामेवावस्थायाम् सः वेदविरुद्धं याति, किन्तु निगमागयोः आधारमेकमेव। उभौ शिष्यपरम्परया समागतो। एकः श्रुतिपरम्परया द्वितीयः प्रयोगविधिना।

वाराहीतन्त्रे सप्तलक्षणयुक्तां क्रियां आगमं मन्यते। धर्मस्याध्यात्मिकज्ञानस्य च मान्यताऽस्ति स अनादीश्वरसमुद्भूतश्च। भारतीयपरम्परायां सर्वविद्यायाः आकरः भगवान् शङ्करः। अस्तु आगम: स्वकालिकी सत्यतां प्रतिपादयितुं भगवन्मुखात् निःसृतः मन्यते।[19]

आगमार्थ: परमज्ञानमपि।[20] स्वस्य स्वरूपस्य ज्ञानं येन ज्ञानेन भवति तद् ज्ञानम् आगमः। स्वरूपस्याभिप्रायः पारमेश्वरस्वरूपेण अभेदविमर्शनम्।[21] स्वरूपज्ञानस्याभिप्रायः 'शिवोऽहम्' इति भावना। *स्वच्छन्दतन्त्रे* लिखितमस्ति प्रत्यक्षानुमानानुभवार्थिप्रत्यर्थिभावेन प्रवर्तितं ज्ञानम् आगमः।[22] द्रष्टावक्तर्त्यो: अनुग्राह्यानुग्राहको भावः इत्यभिप्रायः अर्थि-प्रत्यर्थिः। सर्वशास्त्राणि शब्दात्मकानि यतो संसारे किमपि ज्ञानं नास्ति यच्छब्दात्मकं नास्ति।[23] नूनं सर्वानुभवात्मकज्ञानानां शब्दाभिव्यक्तिः ना अभिप्रायोऽयं अनुभूतज्ञानानां न कोऽप्युच्चारकः न प्रतिहन्ता।[24] अनेन प्रकारेण आगमः तद् ज्ञानं यत् आत्मदर्शनं प्रत्यभिप्रेरयति। डॉ. एचवीग्लासेम्पामहोदयस्य मतमस्ति यत् विश्वस्य सर्वदृश्यपदार्थाः तथा च तेषां स्वरूपमात्रपूर्णता अस्ति।

अस्यागमस्य अणुतरं भागमपि वृहत्तरं भागं प्रभावयति, ह्यमेकेन रहस्यमयसूत्रेण संग्रथितः। विश्वस्य नित्यसत्ता एतस्मात् कदापि भिन्नं न जायते। तान्त्रिकदर्शनस्य मूलाधारोऽयम्।[25] अस्याभिप्रायोऽयं यत् विश्वात्मकसत्तया सह जीवात्मायाः अभेदज्ञानमेव आगमिक: तान्त्रिको वा ज्ञानम्।

आगमशब्दः स्ववैचारिकयात्रायां विविधसोपानगमनं कृत्वा भूत्वा कदाचित् वेदशास्त्र-शब्दानां प्रमाणभूततत्त्वार्थेषु प्रयुक्तम्। यथा विविधशास्त्रेषु अस्य शब्दस्य प्रयोगेण स्पष्टम्। निगमागमशब्दयोः व्याख्याः निरुक्ततः काव्यग्रन्थपर्यन्तम् उल्लिखितमस्ति।

एतेषु विविधव्याख्यानेषु 'निगमाः' अनादिश्रुतिपारम्पर्यात्मका: वेदाः, तार्किकनिगमाश्च वाणिज्यस्य दृष्ट्या संघात्मकरूपेण निगमार्थेषु प्रयुक्ताः।[26] पृथक्दृष्ट्या आगम: आगमागमनागताश्च परम्परार्थेषु प्रयुक्ताः।[27] अतः निष्कर्षरूपेण स परम्पराप्राप्तज्ञानं आगमः यत् गुरुशिष्यपरम्परयागच्छति। तद् ज्ञानेन निबद्धाः पन्था अपि आगमपदवाच्येति उपलक्षणतया आगमः ज्ञायन्ते।[28] आचार्यरामेश्वरझामहोदयेन 'समन्ताद् गमयन्नर्थमागमः परिभण्यते' उक्त्वा प्रातिपादितं यदागमो विमर्शरूपोऽस्ति।[29]

आगमशब्दः एतेषु उपर्युक्तप्रयोगेष्वपि स्वमौलिक्यं संरक्षितवान्। दार्शनिकाः प्रमेयसिद्ध्यर्थं एनं प्रमाणरूपेण प्रतिष्ठितवन्तः। अर्वाग्बौद्धाः अपि बुद्धवचनं आगममुक्त्वा प्रामाणिकं मन्यन्ते।[30] अनेन प्रकारेण नास्तिकास्तिकौ उभौ स्वदर्शने प्रमाणमिदं मन्येते। यत्र प्रत्यक्षानुमानादीनां गतिः नास्ति।[31] सम्प्रदायसिद्धा बहुविद्वांसा: एनमनुसृत्य एनं सर्वप्रकारस्य ज्ञानस्य प्राप्त्यर्थं साधनं मन्यते।[32] दार्शनिकप्रस्थानान्तर्गतप्रमाणानां परिगणना प्रसङ्गेषु आगम: आप्तोपदेशरूपेण न केवलं परिगणितमपितु तस्यानिवार्य स्वीकृतिरपि। सामान्यजनानां प्रज्ञा कुविचारं पक्षपातयुक्तं च भूत्वा जनजीवने प्रमाणरूपेण प्रतिष्ठितो न भवति-(1) आप्तोपदेशात्मकागमः। (2) अनिबद्धप्रसिद्धरूपागमः। (3) निबद्धप्रसिद्धरूपागमः। (4) प्रतिभात्मकागमः।

सामान्यजनानां प्रज्ञा दुर्मतैः पक्षपातैश्च संवलितया जनानां जीवने प्रमाणरूपेण प्रतिष्ठितं न किन्तु यः वक्तव्यवस्तूनां सुविज्ञः अस्ति तस्य आप्तोपदेशस्य प्रामाण्यं प्रति किमपि सन्देहं न जायते।[33] पृथक्-पृथक् प्रसिद्धीनां सन्दर्भे पृथग्पृथगाप्तता। पाणिन्यादीनामाप्तता व्याकरणेषु किन्तु अक्षपादादीनां न। अनेन प्रकारेण विविधज्ञानेषु विविधजनानामाप्तता दृश्यते। इदमेव चरणाप्तवादं शास्त्राप्तवादश्च। पुरुषाप्तवादस्य व्याख्यागतोपलब्धयः यावत् लोकेषु पूर्णसमादरं प्राप्नुवन्ति तावद् पुरुषाप्तवादः एव लोकाप्तवादरूपेण परिणतो भवन्ति। आगमशब्दस्य मूले परम्पराख्याते प्राधान्यमस्ति। एतेषां आदिस्रोतः प्रतिभायाः पराशक्तेर्वाविमर्शोऽस्ति।[34]

आगमः शास्त्रं प्रमाणश्च उभौ इति उपर्युक्तविवरणेन स्पष्टं जातम्। शास्त्रस्याभिप्राय: ज्ञानस्य तया समग्रतया अस्ति यया अनुशासनेन सह व्यवहाराभ्यासयोः सीमाङ्कनं क्रियते। आगमेतिहासस्य आलोचनेन स्पष्ट जातं यत् प्राक्काले वेदविहितकार्याणामतिरिक्त-योगक्षेमसाधनाय वेदबाह्याः प्रक्रियाः अपि प्रचलिताः आसन। यासु वैदिकमन्त्रमधिकृत्य वेदातिरिक्तमन्त्राः अपि विरच्यन्ते ये स्वरादिनियमनिर्मुक्ताः आसन्।[35] अत एव विद्वद्भिः आगमस्य भेदद्वयम् क्रियते- प्रथमो-वैदिकः द्वितीयो- अवैदिकश्च। निगमसम्प्रदायनिष्ठो उपासनादिपद्धतिः

वैदिकीमन्यते। वेदविरुद्धबौद्ध-जैनादिसम्मतपद्धतिः अवैदिकम्। अस्तु तस्य पूजापद्धतिः अपि अवैदिकी। *तन्त्रवार्तिके* आगमानां सुविवरणं तस्य व्यहारोऽपि सुवर्णितमस्ति।[36] वाचस्पतिमिश्रमहाभागेन *साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यां* शाक्यादितन्त्राणि तन्त्राभासरूपेण स्वीकृतम्।[37] *वीरमित्रोदयादिप्रबन्धेषु* अधिकारी-भेदमधिकृत्य सर्वागमान् प्रमाणरूपेण मन्यन्ते।[38] *पराशरमाधवीये* वैदिकागमानां संख्या षट् वर्तते-शैववैष्णवशाक्तसौरवैनायकस्कन्दाश्च[39] *लक्ष्मीतन्त्रस्य* भूमिकायां आगमस्य द्वौ भेदौ स्वीकृतवन्तौ वैदिकावैदिकौ। वैदिकेषु निगमेतिहासपुराणागमाः। भेदत्रयमस्ति आगमस्य शैवशाक्त-वैष्णवाश्च। अपि च शैवस्य चतुर्धा शाक्तस्य द्विधा वैष्णवस्यापि द्विधा भेदाः सन्ति। अवैदिकेषु बौद्धादयः परिगणिताः सन्ति।[40]

आगमः 'तन्त्रम्' इति नाम्नापि प्रसिद्धम्। जनसामान्यानां कृते तन्त्र-शब्दस्याभिप्रायः इन्द्रजालाभिचारादि-मन्यते, कारणमस्ति तन्त्रशब्दस्य ज्ञानाभावः। अनेन प्रकारेण अज्ञानेन भान्तिर्जायते। अगेहानन्दभारतीय मतानुसारेण पारिभाषिकशब्दावल्या अभावेन अथवा तस्याज्ञानमेव आगमविषये भ्रान्तिर्जनयति। ज्ञानभावेनैव तन्त्रशब्दस्य मूलार्थ वक्तुमक्षमः भवेत्।[41] तन्त्रशब्दः तनु विस्तारे धातोः निष्पन्न जायते यस्यार्थोऽस्ति मूलवस्तो अतिशयितं विस्तारम्। वाचस्पतिमिश्रः आनन्दगिरिः, गोविन्दानन्दप्रभृतिविद्वांसः 'ततृ' धातोः तन्त्रशब्दस्य व्युत्पत्तिर्मन्यन्ते, यस्यार्थो व्युत्पादनं ज्ञानस्य मूलस्रोतो वाऽस्ति।[42] ईशानशिवेनापि *'ईशानशिवगुरुदेवपद्धतौ'* तन्त्रस्य निष्पत्तिः ततृ धातोः मन्यते।[43] *अजितागमे* तन्त्रमन्त्रयोः विस्तारकं ज्ञानं तन्त्रं मन्यते।[44] *विष्णुसंहितायां* तन्त्रस्यार्थः भयात् रक्षा अस्ति।[45] तन्त्रस्य उद्देश्यः साधकस्य सर्वदा रक्षा अस्ति। उल्लिखितमिदं नेपालस्य दरबारपुस्तकालये प्राप्ते *पिङ्गलमते।*[46] सामान्यरूपेण तन्त्रशब्दस्य प्रयोगः तत् प्रत्येक दार्शनिकवैज्ञानिक-निबन्धानां कृते भवति येषु कस्यचिद् विषयस्य वर्णनं क्रमबद्धं विस्तरं च भवति। महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्रिणा अस्य शब्दस्य संक्षिप्तार्थं मन्यते, यस्याभिप्रायः मन्त्रसिद्धान्तं वा बीजगणितीयसूत्रसदृशं प्रतिपादनीयम्। येन विस्तृतमर्थेऽपि संक्षिप्तं जायते।[47] डॉ. एस. एन. दासगुप्तस्य मतमस्ति यत् तन्त्रसाहित्यस्य वैशिष्ट्यमिदं तेन भारतीयसंस्कृतेः सर्वपरिणामानां समावेशमस्ति ये वैदिककालाद् एव समागच्छन्ति तथा विरोधपरिहारं स्वाभिमतं क्रियते।[48] सुश्रुतानुसारेण तन्त्रम् आयुर्वेदस्य अपरं पर्यायमस्ति।[49] मूलतः तन्त्रस्य शाब्दिकोऽर्थः शक्तिस्वातन्त्र्यः चेतनायाः विकासो वाऽस्ति।

तन्त्रशब्दस्य प्रयोगः शास्त्रस्यार्थेऽपि प्राप्यते। शङ्कराचार्यः साङ्ख्यदर्शनस्य कृते 'तन्त्र' शब्दः प्रयुक्तवान्।[50] विविधकोशकाराः[51] अपि 'तन्त्र' शब्दस्य विविधार्थाः उक्तवन्तः- 1. कुटुम्बभरणादिकृत्यः 2. सिद्धान्तः 3. औषधिः 4. प्रधानम् 5. परिच्छेदः 6. वेदशाखाभेदः 7. हेतुः 8. उभयार्थकप्रयोगः 9. इतिकर्तव्यता 10. तन्तुवायः 11. राष्ट्रम् 12, परच्छन्दानुमानम् 13. स्वराष्ट्रचिन्ता 14. प्रबन्धः 15. शपथः 16. धनं 17. गृहं 18. वयनसाधनम् 19. कुलम् 20. शिवादिशास्त्रभेदः ।

एतावता संक्षेपेणः आगमतन्त्रस्य सामान्यपरिचयो विद्यते।

सन्दर्भ

1. श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः- *शान्तिपर्वणि* मोक्षधर्मपर्वम्—219/46।
2. द्र. *चिन्मय भारत*, पृ. 54
3. *जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज*, 1970, पृ. 29। (कर्नाटक विश्वविद्यालयस्य मानविकी पत्रिका, 1970, पृ.29)
4. तत्रैव, पृ. 30॥
5. आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः। — *तत्त्ववैशारदी*, 1-7
6. हेयोपादेयरूपेण चातुर्वर्गसमागमात्।
कालोभयागतानान् गमयत्यागमः स्मृतः।। *उपासकाध्ययन*, श्लोकः 100
7. *मनुस्मृतिः कुल्लूकभट्टीया टीका* 2/1
8. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो। तत्रैव
9. *सन्मार्गे आगमविशेषांकः*, पृ.11
10. *ईश्वरसंहिता* 1-24
11. कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
12. *वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे*-134, टीका, पृ. 51-52।
13. *वाक्यपदीये* - वृषभदेव 1/27।
14. न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यक्षाद्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।। *वाक्यपदीये*- 1/141
15. *प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः* 4-13
16. स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः। नित्यः पूजितः सद्भिः आप्तो ज्ञेयः स तादृशः।।- *सांख्यकारिका*-श्लो. 5 *जयमङ्गलाटीकायाम्।*
17. *चरकसंहितायाः* विमानस्थाने 4/4
18. रुचीनां वैचित्र्याजुकुटिलनानापथ जुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव। — *शिवमहिम्नः स्तुतिः* -7
19. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजानने। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।। - *सोल्लासतन्त्रे* 1/15
20. आगमोज्ञानमित्युक्तम् '*आगमरहस्ये*' उद्धृत्तात्रिपुरार्णवतन्त्रस्य भूमिकायां, पृ.4।
21. आसमन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशस्वरूपमिति आगमः। तत्रैव।
22. ग्राह्याग्राह्यानुमानेन प्रत्याक्षानुभवेन च। अर्थप्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते।। -*स्वच्छन्दतन्त्रम्*, 4/339

23. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।— *वाक्यपदीये*, 1/115

24. नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनानामुरसि स्थितः।। -तत्रैव, 7/59

25. The Nation that the whol universe with the tetality of its Phenomona forms one signle whole, in which even the smallest element has an effect upon the largest, because secred theads connect the smallest item with the eternal ground of the world. This is the proper foundation of all tantric philosophy. H.V. Glassnapp. *'Tentrismus and Schaktismus Ostisatische* Zeitschrist, Vol. 22, P. 120, Berlin in 1936.

26. (क) निगमाः पूर्वाणिग्वेदनिश्याध्यावणिक्पथाः- हैमः।
(ख) न्यायमसिद्धे पश्चाववन्यायमध्ये चरमावयवे निश्चयार्थे निगमशब्दप्रयोगः, *तर्कसङ्ग्रहः।*
(ग) वाणिवपथं पुरं वेदोनिगमाः-अमरकोषः।।
(घ) निगमशब्दो वेदवाची यास्केन ता ता निगमो भवति। इत्येवं वेदवाक्यानामवतारित्वात् — *ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम्*।
(ङ) निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्, इति *भागवते* 1/3
(च) नित्यता निर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे नित्ये निगम यममापि स्तुतिमिमाम्- *सौन्दर्यलहरी* 100

27. श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्यानोऽस्मद्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विवक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः। *ईशावास्योपनिषद्भाष्ये*-10

28. (क) प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः- *वाक्यपदीये,* 2/484
(ख) आगमैः सदृशारम्भः आरम्भ सदृशोदयः- *रघुवंशे* 1/15
(ग) न्याये चतुर्विध प्रमाणं स्वीकृतमस्ति चतुर्थमागमप्रमाणम्, *तर्कसंग्रहे।*

29. आन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनम्। अन्तरङ्गस्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवितम्। यद् यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद ध्रुवम्। आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः। उपयोगितया ता उपचारेण कथ्यते। शब्दोऽप्यागमशब्देन विमर्शजनकत्वतः। *सन्मार्गस्यागमविशेषाङ्के*, पृ.60

30. *बोधिचर्यावतारे* 9/42 टीका प्रशाकरमति।

31. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एते विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।। *तैत्तिरीयभाष्यभूमिका।*

32. आज्ञावस्तु समन्ताच्च गम्यते आगमो मतः। पिङ्गलमतं, पाण्डुलिपि दरबारपुस्तकालयस्य, नेपाले, उद्धृतं। टी.एस.आर. एल., पृ. 2

33. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी*, भाग-2, वि. 3, पृ. 102

34. 'प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेतिई. *प्र.वि.वि.* 93 पृष्ठे।

35. (क) वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पविना केचिद् मन्त्र ब्राह्मणमात्रकात्।। *मीमांसादर्शनं, तन्त्र वार्तिकम्* 1/3/6/5 27
कुमारिलभट्ट भागः प्रथमः, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1984, पृष्ठ 457
(ख) स एवं श्रुतिमन्त्रः यास्वेव स्वरविवर्जितः। तान्त्रिकं मन्त्रमित्युक्तं तदेव श्रुतिचोदितम्॥ *पराशरसंहिता*-12

36. सांख्ययोगपाराशरापाशुपतशाक्यमन्त्रपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धानिर्विषचिकित्सावशीकरणोच्चाटनोन्मादनादिसमर्थकतिपयमन्त्री-पधिकायाचित्कसिद्धिनिदर्शनवलेन-अहिंसा-सत्यवचनदमदयादिश्रुतिस्मृतिसंवादिस्तोकायगन्धवासितजीविकाप्राचा-र्थान्तरोपदेशीनि, यानि च बाह्यान्तराणि म्लेच्छाचारमिश्रकभोजनाचरणनिबन्धनानि तेषामेवैतत्श्रुति विरोधहेतुदर्शनाभ्या-मनपेक्षणीयत्वं प्रतिपाद्यते, *मीमांसादर्शनम्, तन्त्रवार्तिके*, तत्रैव, पृ. 328

37. शाक्यभिश्चनिन्दित संसारमोचकादीनामागमाभासा: परिज्ञता भवन्ति *सांख्यतत्त्वकौमुदी*, पञ्चमः श्लोकस्य व्याख्या।

38. *दर्शनोदयः* लक्ष्मीनिवासपुरम्, मैसूरे- 1933, पृ. 455/

39. शैवं च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकं तथा।
स्कान्दं च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव हि।। *पराशरमाधवीये*, 68 पु.

40. *लक्ष्मीतन्त्रे*, उपोद्घाते, पृ.1॥

41. *The Tantric Tradition*, Agchanand Bharti, P. 13.

42. *श्रीआशुतोषमुखर्जी रजतजयन्तीपुस्तकस्य-2*, प्रथमोभागः, पृ. 253, कलकत्ता विश्वविद्यालयः, कलकत्ता।

43. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति:-तन्तृति धातोरिह धारणार्थतया तृतीयोभागः, पृ. 28

44. *अजितागमः* प्रथमो भागः, क्रियापादे, प्रथम पटले, 115 श्लोकः पृ. 10

45. (क) *विष्णुसंहिता* द्वितीयोऽध्यायः, दशमो श्लोकः, सम्पादक: प.म.सी. गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम् 1926
(ख) तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमिति विवुधा: - *काशिकावृत्ति।*

46. तन्यते त्रायते नित्यं तन्त्रमिति विदुर्बुधाः *पिङ्गलमते* (MSS D.L. Nepal) Quoted in TSRL

47. *Shakti and Shakta*, Sir John Wodraf, Published Ganesh and Company. तृतीयो संस्करण: मद्रासः, 1929, पृ. 50

48. *श्रीआशुतोषमुखर्जी रजतजयंती पुस्तकस्य*, तृतीये भागे 1, पृ. 250

49. इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादितः प्रकाशितम्, *सुश्रुत।*

50. 'स्मृतिसांख्या परमर्षिप्रणीता' *ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये* 2/11

51. *वाचस्पत्यम्* —3223 पृष्ठे।

अध्यक्षः, धर्मागम-विभागः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः,
वाराणसी-221005
चलवाणी- 9452823899

अभिनवगुप्त विरचित *श्रीपरात्रिंशिका* में अनुत्तरतत्त्व की दार्शनिक मीमांसा

डॉ. प्रदीप

संक्षिप्तिका (Abstract)—भारतीय प्राच्य विद्या की ज्ञानपरम्परा में काश्मीर शैवदर्शन का अन्यतम स्थान माना जाता है। काश्मीर शैवदर्शन ज्ञान , अध्यात्म एवं दर्शन की अन्यतम विद्या है। इस दर्शन को अनेक नामों से जाना जाता है। जिसमें त्रिकदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन, अद्वैत शैवदर्शन, त्र्यम्बक शैव दर्शन एवं स्पन्द दर्शन विशेषत: प्रसिद्ध हैं। इसके ज्ञानभण्डारमय साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जाता है- आगमशास्त्र, स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र ।[1] इनके आधारभूत आगम ग्रन्थ हैं। इनमें मुख्यत: 1.*मालिनीविजयोत्तरतन्त्र*, 2.*स्वच्छन्दतन्त्र*, 3.*रुदयामलतन्त्र*, 4.*नेत्रतन्त्र*, 5.*विज्ञानभैरव* 6.*तन्त्रालोक* 7.*शिवसूत्र* 8. *परात्रिंशिकाविवरण* 9. *तन्त्रसार* इत्यादि का प्रमुख माने जाते हैं।[2] आगमशास्त्र ग्रन्थों में प्राय: शिव और पार्वती के संवाद वर्णित हैं। इनमें अध्यात्म, ज्ञान, धर्म, दर्शन एवं साधना, उपासना,भक्ति आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों के स्रष्टा स्वयं भगवान् शिव हैं। काश्मीर शैवदर्शन में शिव को अनुत्तरतत्त्व, परमशिव, सदाशिव, कालाग्निरुद्र, भैरव, पराशक्तिरूपा परमतत्त्व एवं महेश्वर आदि नामों से मुखरित किया गया है।

प्रस्तुत शोधपत्र में काश्मीर शैवाचार्य अभिनवगुप्त द्वारा विरचित '*श्रीपरात्रिंशिका*' में अनुत्तरतत्त्व की दार्शनिक मीमांसा का संक्षिप्त विवेचन प्रतिपादित है।

शब्द-संकेत (Key-Words)—परात्रिंशिका का अर्थ , अनुत्तरतत्त्व के पर्याय , अनुत्तरतत्त्व की षोडशी व्याख्या, कौलिकीसिद्धिदम् शब्द, महाविसर्ग का स्वरूप, अनुत्तरकला एवं तृतीय ब्रह्म का विवेचन।

विषयवस्तु (Subject)—काश्मीर शैवदर्शन में आचार्य अभिनव गुप्त का स्थान देदीप्यमान सूर्य के समान प्रतिष्ठित है। इनके द्वारा लगभाग पैंतालिस प्रसिद्ध ग्रन्थों का लेखन किया गया । जिनमें *तन्त्रालोक* , *तन्त्रसार* सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा विरचित *परात्रिंशिकाविवरण* ग्रन्थ शैवदर्शन के मूल दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करने वाला सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें परमशिव को अनुत्तरतत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है। 'परात्रिंशिका' दो शब्दों से मिलकर बना है। जिसमें परा अर्थात् परा-भट्टारिका या पराशक्ति और त्रिंशिका शब्द से इच्छा, ज्ञान और क्रिया है। त्रिंशिका को त्रिंशका पाठ भी मान्य हैं।[3] 'त्रिंशिका' उस संवित्-शक्ति को

कहा जाता है जो इच्छाशक्ति,ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, जिनकों क्रमश: (संसार की भूमिका पर) सृष्टि,स्थिति,संहार और (अध्यात्म की भूमिका पर) उद्योग, अवभास और चर्बण कहते हैं कि सर्वतन्त्र संचालिका है।[4] प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य विषय अनुत्तरतत्त्व एवं पराभट्टारिका है। आचार्य अभिनवगुप्त ने परा-भट्टारिका शब्द के स्थान पर भट्टारिका-परा शब्द का प्रयोग किया है। *परात्रिंशिका* तन्त्र के प्रारम्भ में श्री देवी उवाच !

अनुत्तरं कथं देव ! सद्य: कौलिकसिद्धिदम्।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत्॥

अर्थात् उस अनुत्तरतत्त्व का स्वरूप कैसा है, जो कि अनुभव में आने के तत्काल ही कौलिकसिद्धि को प्रदान करता है और जिसका मात्र ज्ञान प्राप्त करने से ही, कोई भी साधक खेचरी-शक्ति की साम्य-अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[5] इसके बाद इसमें अनुत्तरतत्त्व का स्वरूप का वर्णन करते हुए यहाँ कहा गया है- यह कौलिक विधि-विधान , जो उपलब्ध हो जाने के तत्काल ही कौलिक-सिद्धि को देता है, मेरे हृदयाकाश में (शाश्वतिक रूप में) वर्तमान ही है। हे देवताओं की शासिका इसको मैं तुम्हें भली-भाँति समझा रहा हूँ।[6] इस प्रकार से अनुत्तरतत्त्व की व्याख्या करते हुए श्रीशम्भुनाथ कहते हैं- शाश्वत अनुत्तरभाव पर रहने वाली 'अ-कला' स्वभावत: सृष्टिरूपिणी ही है। अनुत्तर अकार से लेकर बिन्दु अर्थात् अंकार अन्त तक की सारी तिथियाँ- अर्थात् पन्द्रह स्वर, अन्त: प्रवेशरूपी प्रसार के प्रतीक हैं।

इनके अन्त पर 'अ:—कार' की दो बिन्दियों से उपर वाली बिन्दी में काल-कलना के शाश्वतिक योग के परिचायक और प्रवेशरूपिणी क्रिया के स्पन्दन के सूचक चन्द्रमा और नीचे वाली बिन्दी में उस काल-कलना के परिचायक और निर्गमरूपिणी क्रिया-शक्ति के सूचक सूर्य की अवस्थिति बताई गई है। इस अ लेकर अ: तक की समूची वर्ण सृष्टि की वर्तामानता बिलकुल उस अकुल के स्वरूप में समझनी चाहिए।[7] *परात्रिंशिका* में इसका वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि क से लेकर म तक पाँच वर्गों के अक्षरों में, क्रमहीनता में ही क्रमश:, पृथ्वी तत्त्व से लेकर पुरुष तत्त्व के पच्चीस तत्त्वों के बहिर्मुखीन प्रसार का रहस्य भरा हुआ है।[8] इसका विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है- वायु- य, अग्नि – र, सलिल – ल, इन्द्र – व । ये चार अन्तस्थ क्रमश: चार प्रकार के धारण रूपी तत्त्वों- 1.राग-नियति-तत्त्व 2.विद्या-तत्त्व 3. कला-तत्त्व 4. माया-तत्त्व के प्रतीक हैं। इनके ऊर्ध्ववर्ती (आरोह क्रम में) शकार से लेकर क्षकार तक पाँच वर्णों में ब्रह्मपञ्चक अर्थात् महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति इन पाँच तत्त्वरूपी ब्रह्मों की व्यापकता अति स्पष्टरूप में वर्तमान है। यह अनुत्तररूपिणी 'अ-कला' मूलवाली में अन्तिम क्षकार तक प्रसार में आने वाली सृष्टि, इसी अक्रम में ही क्रम के अनुसार समझनी चाहिए। वास्तव में इस प्रकार के अनुत्तरीय-विमर्श को सृष्टि की संज्ञा दी गई है।[9] समस्त तन्त्रों में वर्णन किया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त की षोडशी व्याख्या—अनुत्तरतत्त्व परमशिव का पर्याय है। काश्मीर शैवदर्शन में शिव के अनेक नामों से विवेचित किया गया है। जिसमें मुख्यत: अनुत्तरतत्त्व, कौलिकीसिद्धि, महाविसर्ग, अनुत्तरकला एवं तृतीय ब्रह्म आदि प्रमुख है। अनुत्तरतत्त्व की षोडशी व्याख्या यहाँ प्रतिपादित है।

1. अनुत्तरम्—'न विद्यते उत्तरम् अधिकं यत:'। अर्थात् अनुत्तरतत्त्व वह पद है, जिससे और किसी तत्त्व की बढती और भिन्नता नही है। अर्थात् यह षट्त्रिंशत् तत्त्वों से अधिक नही हैं। वह स्वय् प्रत्येक रूप में परिपूर्ण होने के कारण निर्बाध एवं अपेक्षा से रहित ज्ञानरूपता के चमत्कार अर्थात् अहंरूप में प्रसार की जीवनाधायिनी शक्ति है।[10]

2. तथा—न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवचनोरूपं यत्र ।[11] 'अनुत्तर' पद वह है, जिसमें प्रश्नरूपता और प्रतिवचनरूपता का कोई घोटाला नही है। अर्थात् कृमिज्ञान से लेकर अनाश्रित शिवज्ञान तक प्रसार में आने वाले अनन्त ज्ञानों की परम्परा का एकमात्र विश्रान्ति स्थान बने हुए जिस अपार संवित्-सागर से ही उठने वाली तरङ्गमाला का पात्र शिष्य बन जाता है, वही वास्तव में, हमेशा उदय की अवस्था में रहने वाला तत्त्व है।

3. उत्तरणम्—उत्तरो – भेदवादाभिमतोऽपवर्ग :। (अनुत्तरम् – न विद्यते 'उत्तर:' उत्तरणं यत्र।)[12] 'अनुत्तर' वह भूमिका है, जिसमें तथाकथित भूमिकायें पार करके तथा-कथित अपवर्ग को प्राप्त करने का कोई बखेडा नही है। वही अनुत्तरतत्त्व कहलाता है।

4.अनुत्तरम्—ईदृश एव, नाभि-हृत्-कण्ठ-तालु-ब्रह्मरन्ध्र-भैरवबिलाद्यष्ठानक्रमप्राप्त: ऊर्ध्वतरणक्रम: 'उत्तर:'। (न विद्यते 'उत्तर:' उर्ध्वतरणक्रम: यत्र ।) [13] 'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें छ: चक्रों को भेदन करके ऊपर सहस्रार-चक्र तक चढने के क्रम को अपनाने का कोई प्रयोजन नही है। इसका यहाँ विस्तृत वर्णन दिया गया है।

5. अनुत्तरम्—'उत्तरन्ति अत:' –इति 'उत्तरो बन्ध:'। (न विद्यते 'उत्तर:' बन्ध: यत्र।[14] 'अनुत्तर' पद वह है, जिसमें कोई भी तथा-कथित बन्धक वर्तमान नही है। उत्तर शब्द का अर्थ बन्धक है और बन्धक संसार को माना जाता है, विवेकशील व्यक्ति इसको काट कर आगे चले जाते हैं।

6. अनुत्तरम् — उत्तरणम्-'उत्तरो' मोक्ष:। (न विद्यते 'उत्तर:' मोक्ष: यत्र ।) [15] 'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें तथाकथित मोक्ष जैसी कल्पना का भी कोई स्थान नही है। उत्तर शब्द से मोक्ष का अभिप्राय भी लिया जाता है, क्योंकि यह (संसाररूपी सागर को) पार करके प्राप्त की जाने वाली भूमिका की कल्पना है। फलत: जिस पद में इस प्रकार के उत्तर के वर्तमान न हो, वही अनुत्तर-पद कहलाता है।

7. उत्तरं च शब्दनं, तत् सर्वथा— ईदृशं, तादृशं इति व्यवच्छेदं कुर्यात्, तत् यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नम् इसम् – अनुत्तरम् । (न विद्यते 'उत्तर:' शब्दनं यत्र ।) [16] 'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें

शब्दन अर्थात् इयत्ताओं को जन्म देने वाले मानसिक ऊहापोह का टंटा नही है। उत्तर शब्द का अभिप्राय शब्दन अर्थात् मानसिक उहापोह भी है। वह सर्वथा यह वस्तु ऐसी है, वैसी थी आदि रूपों वाली इयत्ताओं को जन्म देता है। जहाँ पर इस प्रकार इयत्तायें न हो और व्यवच्छेदों से रहित हो वह पद अनुत्तर है।

8. अनुत्तरम् – एवम् एव नरात्मनः शाक्तम् उत्तरम् । (न विद्यते 'उत्तरः' उत्तरत्वं यत्र ।) [17] 'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें सापेक्ष उत्कर्षो का कोई महत्त्व नही है। इसका यहाँ विस्तार से वर्णन किया गया है।

9. तथा विप्र-राजन्य-वैश्य-शूद्रान्त्यजातिविभागमयम् ऊनाधिकत्वं यत्र न स्यात् – भावप्राधान्यम् उत्तरशब्दस्य ।[18] (अनुत्तरम् – न विद्यन्ते 'उत्तराः' (शक्तिभेदाः) यत्र।) अर्थात् 'अनुत्तर' पद वह है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और अन्त्य जाति आदि, इस प्रकार के जातिविभाग पर आधारित नीची और ऊँची जात का कोई बखेडा नही है। यह उत्तर शब्द भाववाचक है।

10. उत्तराः पश्यन्त्यद्या शक्त्यः। (अनुत्तरम् – न विद्यते 'उत्तराः'(शक्तिभेदाः) यत्र ।

11. अघोराद्याः । (अनुत्तरम् – न विद्यते 'उत्तराः' (शक्तिभेदाः) यत्र ।

12. पराद्याः । (अनुत्तरम् – न विद्यते 'उत्तराः'(शक्तिभेदाः) यत्र ।[19] अर्थात् उत्तर पद पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, अघोरा, घोराघोरा, घोरा और परारूपिणी, सूक्ष्मरूपिणी, स्थूलरूपिणी इस प्रकार से शक्ति के कपोल कल्पित भेद नहीं है।

13. नुद प्रेरणे इत्यस्य नोदनं नुत्, तया तरणं दीक्षाक्रमेण तरः। (अनुत्तरम्– न भवति 'नुदा' तर– तरणं यत्र ।) [20]—'अनुत्तर' वह पद है, जहाँ शिष्य को दीक्षा-क्रम के धक्के से ठेलकर पहुँचाया नही जा सकता है। अर्थात् दीक्षा, जप आदि का वर्णन किया जाता है।

परन्तु इस अनुत्तर मार्ग में स्वभाव से ही प्रकाशमान सर्वव्यापक और देश, काल एवं आकार की विशेषताओं से विशिष्ट न बन सकने वाले चित्त-तत्त्व को इन विडम्बनाओं का पात्र नही बनाया जा सकता है। इस प्रकार की प्रेरणाओं से जहाँ पार उतारा नही जा सकता है, वही अनुत्तर-पद है।

14. अनुत्तरम् – अनिति अन् तस्यैव उत्तरत्वं यत्र ।[21] अन् धातु का अर्थ है सांस लेना। यह अणु अर्थात् जीवात्मा का द्योतक है। क्योंकि वह शरीर,प्राण और पुर्यष्टक में अवस्थित रहकर प्रतिसमय सांस लेता रहता है। यहाँ यह शब्द शून्य प्रमातृ-भाव में अवस्थित रहने वाली आत्मा का भी द्योतक है। यह तत्त्व सर्वतोमुखी और पारमार्थिक उत्कर्ष पाया जाता है। अतः अनुत्तर-पद कहलाते हैं।

15. अनुत्तरम् — 'अ' कलाया या 'नुत्' –विसर्गान्तता , तस्या एव 'तरः' यत्र । (अ+नुत्+तरः) [22] – 'अ' प्रकार की को कला , अर्थात् अनुत्तर-शक्ति है, इसका वास्तविक रूप अमायीय, शास्त्रों में वर्णन किए जाने के अयोग्य और नैसर्गिक एवं महान् प्रकाशपुञ्ज में ही विश्रान्ति होकर

वर्तमान रहने के कारण चित्-समुद्र का किसी भी तरंगायमानता से हीन स्वरूप-चमत्कार ही है। यही अ कला प्रेरणामयी विसर्गान्तता का सर्वतोमुखी साम्राज्य छाया रहता हो, वही अनुत्तर-पद है। इसका यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है।

16. अनुत्तरम् – अविद्यामाना 'नुत्' –क्रमात्मक क्रियामयी प्रेरणा यत्र तत् 'अनुत्' ततोऽपि सातिशयम् ।[23] अनुत्तरधाम तो वही है, जिसमें सक्रम क्रियात्मकता से जनित प्रेरणा के लिये कोई अवकाश न हो और जो आकाश एवं शून्य इत्यादि से भी उत्कृष्ट हो।

वही अनुत्तर-पद है। आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ने यहाँ अनुत्तर-पद की व्याख्या अत्यन्त गम्भीर और गहन दार्शनिक शैली में प्रस्तुत की है। यहाँ पद पद अनुत्तरतत्त्व के विषय में कहा गया है—

अनुत्तरं तद्-हृदयं हृदये ग्रन्थिरूपता।
ग्रन्थि षोडशधा ज्ञात्वा कुर्यात् कर्म यथासुखम्॥

अर्थात् अनुत्तर-पद समूची विश्वरूपता का हृदय अर्थात् शक्ति-केन्द्र है। उसमें सोलह प्रकार की गाठें विद्यमान हैं। विवेकी व्यक्तियों के उन सोलह प्रकार की गाठों का रहस्य भलीभाँति हृदयङ्गम करने के उपरान्त ही सुखपूर्वक, अर्थात् नि:शंक होकर कार्यभार चलाना चाहिए।[24] इसके अतिरिक्त गुरुजनों का कथन है कि इन सोलह प्रकार की गाठों को अत्यन्त महत्त्व है। इनके लिये प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण और प्रमिति ये चार अलग-अलग सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य के चार रूपों में वर्तमान है। गुणा करने पर इनकी संख्या सोलह हो जाती है। ये वास्तव में सोलह ग्रन्थियाँ ही हैं। अनुभाव की अनुभूति को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों को इन सोलह गाठों को ज्ञान के द्वारा खोलने की आवश्यकता होती है।[25]

कौलिकीसिद्धिम् शब्द की व्याख्या—कुल में उत्पन्न होने वाली सिद्धि कौलिकी सिद्धि कहलाती है। कुल के अन्तर्गत कौलिकी सिद्धि की प्रसूति हो जाती है। यह समूचे कुल को अनुत्तर रूपी अनुभव करने की दृढ़ता इदन्तारूपी विश्वाभास को अहन्तारूपी अनुत्तराभास में पूर्णतया विश्वाभास करने की क्षमता के द्वारा , चतुर्दिक् आनन्दमयता के परिपूर्ण अथवा मध्यधाम के स्पन्दन के स्वरूप वाले और परसंवित् की विकासमयी अवस्था का रूप धारण करने वाले परशिवात्मक विमर्श के साथ एकाकारिता हो जाने की सिद्धि देती है। यह अनुत्तरभाव के साथ तादत्म्य हो जाने की अवस्था में सारा कुल अनुत्तरमय होने लगता है।[26] अनुत्तरीय वीर्य के प्रसारात्मक स्वभाव को शास्त्रीय शब्दों में विसर्ग कहते हैं। विसर्ग तो स्वभाविक उच्छलन हे समझना चाहिए। जहाँ शिव विसर्गरूप है, वहाँ शक्ति भी विसर्गरूपिणी है क्योंकि शक्ति का अकाट्य स्वभाव भी उच्छलन ही है। इस विसर्ग से ही यह सारा अगम्य सृष्टि प्रपञ्च सम्पन्न हो जाता है। शिव का आगे आगे प्रसार ही सृष्टि का विस्तार है। संहार भी वास्तव में प्रसार ही है। क्योंकि जहाँ सृष्टि-प्रकिया में शिव भाव नर भाव में पहुँच जाता है।

यह प्रसार-संहारमयी क्रीड़ा केवल विसर्गरूपता ही है। इस विसर्गात्मकता को अहं के हकार के ऊपरवाली बिन्दी सूचित करती है।[27] तान्त्रिक प्रक्रिया में अनुस्वार को विसर्ग का आधा ही कहते हैं, हकार का आधा पूर्ण विसर्ग (:) और उसका आधा अर्ध विसर्ग (.) बिन्दु होता है।[28]

यह काल की कलना से रहित होकर अनुत्तर ध्रुव अर्थात् सर्वोत्कृष्ट एवं स्थिर अनुत्तरपद के वाचक अकार और विसर्ग अर्थात् शिवत्व की प्रसाररूपिणि शक्ति के वाचक हकार (अहं भाव) के वीर्य का संचार झट से स्वभाविक रूप में हो जाता है। उससे वे (स्वयं अचेतन पर भी) प्राण इत्यादि रूपों वाले मध्यम सोपान अर्थात् अन्तर्वर्तिनी संवित् शक्ति की सीढ़ी पर आरूढ़ होकर सारे भावों को अपने अपने निश्चित् रूपों में व्यवस्थित कर लेने की सिद्धि वितरण कर देते हैं।[29]

महाविसर्ग का स्वरूप—महाविसर्ग शब्द महा और विसर्ग शब्दों के मेल से बना है, अर्थात् महान् विसर्ग – बहिरंग विशवप्रसार के रूप में विसर्जित किए जाने वाले आनन्दात्मक चमत्कार का विश्लेषण अर्थात् स्वरूप में ही पूर्णरूप से सोखने का अभिप्राय लिया जाता है। अनुत्तरतत्त्व , शाश्वतिक रूप में महाविसर्ग विश्लेषणमय ही है। समस्त विश्वमयता इस महाविसर्ग का लोकोत्तर चमत्कार है।[30] यह शिवविद्या त्रिकोण के आकार वाली सबसे उत्कृष्ट विद्या त्रिकरुपिणी (प्रमाता, प्रमेय प्रमाण एवं ज्ञान, इच्छा और क्रिया अथवा शिव, शक्ति और नर) समूची रसमयता की मलभूमि होने कारण सारे बहिरंग एवं अन्तरंग विसर्ग (प्रसार)की पद्धति है।[31]

विसर्ग (:) की बिन्दियों का अर्थ :- अनुत्तर अहं के प्रसार की क्रीड़ा का परिणाम ही सृष्टि है। शाश्वत अनुत्तर भाव पर रहने वाली अ-कला स्वभावत: सृष्टिरूपिणी ही है। अनुत्तर अकार से लेकर बिन्दु अर्थात् अंकार के अन्त तक की सारी तिथियाँ अर्थात् पन्द्रह स्वर अन्त:प्रवेशरूपी प्रसार के प्रतीक हैं। इसके अन्त में अ: अर्थात् अ को दो बिन्दियों में से ऊपर वाली काल-कलना के शाश्वतिक योग के परिचायक और प्रवेशरूपिणी क्रियासिद्धि के स्पन्दन के सूचक चन्द्रमा की और नीचे वाली बिन्दी में उसी काल-कलना के परिचायक और निर्गमरूपिणी क्रियाशक्ति के सूचक सूर्य की अवस्थिति बतलाई गई है।

इस अ से लेकर अ: तक की समूची वर्णसृष्टि की वर्तमानता उस अकुल के स्वरूप में समझनी चाहिए।[32] यहाँ विसर्ग पद का अर्थ प्रसार है। इसके दो स्वरूप होते हैं।

1. संहारात्मक अर्थात् स्वरूप में प्रवेशात्मक ।

2. सृष्ट्यात्मक अर्थात् स्वरूप में निकल कर जगद्रूप में प्रसारात्मक ॥

विसर्ग की दो बिन्दियाँ प्रवेशात्मक और प्रसारात्मक रूप की प्रतीक हैं। इनमें ऊपर वाली प्रवेशरूपी प्रसार और नीचे वाली निर्गमरूपी प्रसार का संकेत देती हैं।[33]

अं का अर्थ—यह स्वर अनुत्तरीय सृष्टि के स्वरूप में ही लयीभवन के संवेदन का प्रतीक है। शैवागमों में इसको अर्थात् बिन्दु को पूर्णता का आवेश , परियाचक चिन्मय पुरुषतत्त्व अर्थात् परिपूर्ण प्रकाशमय शाम्भव तत्त्व ही माना जाता है ।

कहा भी गया है—

अत्र प्रकाशमात्रं यत् स्थिते धामत्रये सति।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ स्मृतः॥

एवं च—

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि।
अविभागः प्रकाशो यः सः बिन्दुः परमो हि नः॥

इसका भाव यह है कि अनुत्तरीय विमर्श में तीन धामों अर्थात् सोमरूपिणी इच्छाशक्ति, सूर्यरूपिणी ज्ञानशक्ति और अग्निरूपिणी क्रियाशक्ति के विमर्शमय सृष्टि-प्रसार के अवस्थित हो जाने पर इसके मूल में अवस्थित जिस विभागहीन प्रकाश की स्थिति अनुभव की जाती है, वही शिवबिन्दु है। इच्छाशक्ति की परिणति ज्ञानशक्ति में और उसकी क्रियाशक्ति में, इस प्रकार तीनों की पूर्ण परिणति हो जाने पर तीनों का भेदतत्त्व में लय हो जाता है। यही स्वभाविक एवं अनुत्तरीय प्रक्रिया है। इसी कारण से अनुभवी सिद्धों ने इस शिवबिन्दु को अतीव महत्ता प्रदन की है।[34]

इसी प्रकार से *परात्रिंशिका* में विसर्ग बिन्दियों के संदर्भ में कहा गया है—*सा तु समदशी देवी हकारार्धस्वरूपिणी। इति विसर्गस्य हकारार्धत्वात्।* अर्थात् यह हकार के आधे विसर्ग (:) का आधा बिन्दु (.) का रूप अंगीकार कर लेने पर सत्रहवीं देवी अर्थात् कला समझनी चाहिए। यह विसर्गकला सृष्टि प्रक्रिया में निरत हो तब विसर्ग(:) और विरत हो तब (.) बिन्दु कहलाती है। संहार दशा में विसर्ग हे बिन्दु और प्रसार दशा में बिन्दु ही विसर्ग है। विसर्ग-बिन्दु कला तो प्रत्येक अवस्था में शाश्वत एवं अनपायिनी है।[35] यह विसर्ग ही स्वस्वरूपतः अविचल अनुत्तरधाम है और अनुत्तरपद को प्राप्त करवाने की दिशा में एक अतीव सरल उपाय है।[36]

साधना में अनुत्तरकला एवं तृतीय ब्रह्म की सोलह प्रकार से व्याख्या—साधना अवस्था में अनुत्तरतत्त्व एवं तृतीय ब्रह्म साधक की साधना का प्रमुख केन्द्र होता है। यह सोलह प्रकार से साधना में अनुभवगत होता है।

1. यह अनुत्तर (अ-कला) की अपेक्षा ब्रह्मा का प्रमेय और प्रमाता का समरसीभाव है। यह अनुत्तर अकार की अपेक्षा तीसरा ब्रह्म है।
2. यह आनन्द शक्ति (आकार) के आ विशुद्ध इच्छा ए के प्रादुर्भाव की मूल भूमिका है। यहाँ क्रियाशक्ति अपेक्षा (क्रिया, ज्ञान, इच्छा) तीसरा ब्रह्मतत्त्व है।

3. यह इच्छा (इकार) की अपेक्षा तृतीय ब्रह्म का रूप इच्छा ही है।
4. ईशनी (ईकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
5. उन्मेष (उकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
6. ऊनता (ऊकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
7. पहले शून्य वर्ण (ऋकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
8. दूसरे शून्य वर्ण (ॠकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
9. तीसरे शून्य वर्ण (ऌकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
10. चौथे शून्य वर्ण (ॡकार) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
11. एकार की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
12. ऐकार की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
13. ओकार की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
14. औकार की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
15. बिन्दुकला (अं) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है।
16. विसर्ग (अ:) की अपेक्षा तीसरा ब्रह्मा है। यह विसर्ग भी दो प्रकार से है।[37]

इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन में अनुत्तरतत्त्व का विस्तार रूप से वर्णन किया गया है।

उपसंहार (conclusion)—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्वयं सिद्ध होता कि काश्मीर शैवदर्शन में अनुत्तरतत्त्व की दार्शनिक मीमांसा का वर्णन मौलिक है। इस प्रकार परम शिव का विश्लेषण विभिन्न पर्यायों द्वारा शिवतत्त्व के दार्शनिक पक्षों की व्याख्या करना है। अत: यह शोधपत्र काश्मीर शैवदर्शन के विद्यार्थियों के लिए सहायक सिद्ध होगा। यह शिव कृपा का प्रसाद है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* : अभिनवगुप्त , (भास्करी सहित), अय्यर, के.ए.एस. एवं पाण्डे, के.सी. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986
2. *श्रीपरात्रिंशिका* : व्याख्या—आचार्य नीलकण्ठ गुरुटू , मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985

3. *तन्त्रालोकम्* : अभिनवगुप्त , भाग-1-2, राजानक, जयरथ कृत, विवेक व्याख्या सहितम्, मिश्र , परमहंस, (हिन्दी भाष्य सहित), वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1922-23

4. *तन्त्रसारम्* : अभिनवगुप्त, राजानक ,जयरथ (व्या.) शास्त्री, मधुसूदन कौल , श्रीनगर, काश्मीर सीरिज आफ टेक्स्ट्स एण्ड स्टडीज -1918

5. *परमार्थसार* : अभिनवगुप्त , सं.द्विवेदी, कमला, मोतीलाल बनारसीदास, नव देहली-1984

6. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* : क्षेमराज , सिंह, जयदेव, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली- 1963

7. *रुद्रयामलतन्त्रम्* : (हिन्दी टीका सहित), मालवीय, सुधाकर,चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान , दिल्ली-2010

8. *मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्* : मिश्र परमहंस , हिन्दी टीका, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली-2010

9. *स्वच्छन्दतन्त्रम्* : संस्कृतम् हिन्दी टीका सहित, चतुर्वेदी, राधेश्याम (भाग-1/2), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2004

10. रस्तोगी, नवीन, *काश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम-मत*, डी.के.प्रिण्टवर्ल्ड प्रा. लि., नई दिल्ली, 2011

सन्दर्भ

1. *श्रीकाश्मीर शैवदर्शन* , पृष्ठ संख्या – 7 भूमिका
2. *श्रीकाश्मीर शैवदर्शन* , पृष्ठ संख्या - 32
3. *श्रीपरात्रिंशिका* , अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 29
4. *श्रीपरात्रिंशिका* , अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 28
5. *श्रीपरात्रिंशिका* , कारिका - 1
6. *श्रीपरात्रिंशिका* , कारिका – 3, 4
7. *श्रीपरात्रिंशिका* , कारिका - 5
8. *श्रीपरात्रिंशिका* , कारिका - 6
9. *श्रीपरात्रिंशिका* , कारिका - 8
10. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० – 31
11. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 32
12. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 32
13. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 33
14. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 34
15. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 34
16. *श्रीपरात्रिंशिका*– अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 34

17. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 37
18. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 38
19. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 38
20. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 39
21. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 41
22. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 42
23. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 43
24. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 49
25. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० - 49
26. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० – 53-54
27. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० – 55 विसर्ग – तदा एव परमानन्दामृतास्वादमयम्, अदेशकालकलितम्, अनुत्तरं ध्रुवं, विसर्गरूपं, सततोदितम्।
28. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० – 55-56
29. पूर्वोक्त, शरीरादयो हि झगिति अनुत्तर-ध्रुवं-विसर्गवीर्यावेशेन अकालकलितेन प्राणादि-मध्यम-सोपानारोहेण एव भावनां तथात्वनिश्चयरूपां सिद्धिं विदधते।
30. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० – 74
31. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ० – 86
32. *श्रीपरात्रिंशिका*, श्लोक , 5 अथाद्यास्थितय: सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानगा:। तदन्त: कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ॥
33. पूर्वोक्त
34. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ०- 290-291
35. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ०- 318
36. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ०- 339 विसर्ग इति तत्प्रोक्तं ध्रुवधाम तदुच्यते। अनुत्तरपदावाप्तौ स एव सुघटो विधि:।
37. *श्रीपरात्रिंशिका* – अभिनवगुप्त विवृति, पृ०- 368

सहायक प्रोफेसर
संस्कृत विभाग साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
pardeepjnu08@gmail.com
चलवाणी- 9996884694

श्रीविद्यासाधक पं. सम्पूर्णदत्तमिश्र की सारस्वत साधना

प्रो. नीरज शर्मा

राजस्थान प्रदेश-मत्स्याञ्चल के भरतपुर नगर में श्री सम्पूर्णदत्त मिश्र का जन्म सन् 1928 में हुआ। संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य दोनों ही विषयों में स्नातकोत्तर उपाधिप्राप्त श्री मिश्र महोदय संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी भाषाओं के साहित्य के विद्वान् थे तथा चारों ही भाषाओं में समानरूप से काव्यरचना करते रहे । स्वभाव से सौम्य, मनोहर, प्रसन्नचित्त, हिन्दी-संस्कृत कवि सम्मेलनों में लोकप्रिय श्री मिश्र ने राज्यसेवा में संस्कृत अध्यापन का कार्य करते हुए सन् 1983 में सेवानिवृत्ति प्राप्त की।

श्रीमिश्र 'साहित्य साधना वा परमेश्वरोपासना वा' इस सिद्धान्त की साक्षात् मूर्ति रहे हैं। अपने उत्कृष्ट काव्यसृजन के द्वारा श्री मिश्र ने कविपुण्डरीक की उपाधि प्राप्त की। संस्कृत के साथ अंग्रेजी भाषा साहित्य परिज्ञान के प्रभाव से श्री सम्पूर्णदत्त मिश्र की रचनाओं में पूर्व और पश्चिम जगत् के ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्मिकता एवं भौतिकता, प्राचीनता एवं अर्वाचीनता का मणिकाञ्चनसहयोग प्रतिभासित होता है। आपकी प्रमुख काव्यरचनाओं में *ऋतूल्लास, सूक्ति पञ्चामृतम्* एवं *वृत्तिलहरी* हैं। स्तुतिपरक रचनाओं में *रासनायक और रासनायिकास्तव, श्रीरेवेश्वररञ्जना* अथवा *सम्पूर्ण मुक्तिशतक, अष्टकाष्टक, राधाकृष्णकलानिधि, कालीधिक्काराष्टक, सौभाग्यभावनपराष्टक, कामाक्षावरदस्तोत्र, गुणवतीस्तव, दु:स्वप्न निष्फलकराष्टक* हैं। राजस्थान प्रदेश के इस महनीय संस्कृत स्तोत्र साहित्य निम्नानुसार विवरण-समीक्षण प्रस्तुत किया किया जा सकता हैं—[1]

श्रीस्तवस्तबकम् (अष्टकाष्टकम्)

यह श्रीमिश्र के उन स्तोत्रों का संग्रह जिनमें भगवती का स्तवन विहित है। अष्टकाष्टकम् में 8 स्तुतियाँ है- 1. कालीधिक्काराष्टकम् 2. गुणवतीस्तव 3. सौभाग्यभावनपरास्तव 4. दु:स्वप्नार्तिहरस्तव 5. धवलाचल-दुर्गास्तव 6. धवलपर्वतसुन्दरीस्तव 7. कामाक्षावरदस्तव 8. सुन्दरीसंगमस्तव है। यह संकलन सम्प्रति पूर्णत: अनुपलब्ध है तथा अप्रकाशित भी। 'कामाक्षावरदस्तोत्र' ही उपलब्ध हो सका है। यह स्तोत्र कवि के अनुसार आशुविवाहकारक है जिसके पाठ से कई अविवाहित वर कन्याओं के विवाह हो गये है

वरविवाहकामाय स्त्रीपुँल्लोकाय निर्मितम्।
सर्वकामहितं नित्यं कामाक्षावरदाष्टकम्॥

यह सदाशिव की शक्तिस्वरूपणी कामाक्षा देवी के आराधन में रचित है। इसके दो पद्य प्रस्तुत है—

कामाक्षिके वरदगेहिनि योगदक्षे
दुर्भाग्यलेखलघुलुम्पनलम्पटा त्वम्।

धर्मार्थकामजसुखाय समुत्सुकोऽहं
सौभाग्यभावनपरे शरणं त्वमेव॥
विवाहोत्को लोकः सपदि वरपत्नीसुखमलं
पतीयन्ती नारी पतिसुखमवाप्नोति तरसा।
ततो दुर्भाग्याङ्कप्रकटपरिणामापि जगती
सकामा कामाक्षे वरदरमणि त्वां प्रणमति॥[2]

श्रीललितामङ्गलसङ्गीतम्

यह प्रकीर्ण स्तुति रचना है जो किसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। श्री मिश्रजी द्वारा इसकी छाया प्रति उपलब्ध कराई गई। गणपति, बटुकभैरवादि संवलित श्री त्रिपुरसुन्दरी जगदम्बा ललिता के चरणारविन्दों का वन्दन करने वाले इस स्तव का एक पद्य प्रस्तुत है—

इन्द्राणीन्द्रमुकुटमणिदीपितकल्पलताकुसुमाञ्जलि शलिते।
रतिपतिहासविलासविकासितकवितागीतकलाञ्जलफलिते॥
गणपतिबटुकभैरवीवलिते।
वन्दे पदकमले ते ललिते॥

श्रीरासनायिकास्तव

इस स्तोत्र का प्रकाशन स्वयं कवि द्वारा 'रासनायकनायिकम्' ग्रन्थ में हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति, नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा के उज्ज्वल गुणों का आराधन किया गया है। अपने कृपाकटाक्ष से समस्त क्लेशों को दूर कर देने वाली श्रीराधिका की महिमा वर्णन का एक पद्य प्रस्तुत है—

यदा गिरीशधामिनी शरद्विकासगामिनी
निशाधिनाथभामिनीव गन्धितास्ति यामिनी।
इतस्ततः परिभ्रमन्मदालसाशतेन किं
रसाधिपस्यराधिके! तदा त्वमेव कामिनी॥[3]

श्री राधाकृपाकटाक्ष

इस स्तोत्र में मुनिगणों द्वारा वन्दित सर्वलोक शोकहारिणी राधिका का स्तवन है। कवि ब्रजराजकुमारकृष्ण की हृदयेश्वरी निकुञ्जवासिनी वृषभानुकुमारी से उनके कृपाकटाक्षों की याचना करता है। भगवती की सौन्दर्य माधुरी का वन्दन करते हुये कवि कहता है कि श्रीराधिकाजी की भुजायें मृणाल वल्लरी के समान,बालारुण पल्लवों के समान चरणतल, अनङ्गधनुष के समान भृकुटि, स्वर्णकलशों के समान कुचद्वय है । आपकी इसी विश्वमोहिनी छवि के लिये श्यामसुन्दर सदैव लालायित रहते हैं। रससिन्धु श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में नित्यविराजित श्रीराधाजी के स्वभावसुन्दर कृपा कटाक्ष प्राप्त होने पर भक्तों के रोम-रोम में भक्तिरस के अनिवर्चनीय आनन्द की रसधारा प्रवाहित होने लगती है। इसी प्रकार के भावभरे दो पद्य प्रस्तुत हैं—

अनन्तकोटिविष्णुलोकनम्रपद्मजार्चिते!
हिमाद्रिजा पुलोमजा विरञ्चिजा वरप्रदे!
अपारसिद्धिवृद्धिदिग्धसत्पदाङ्गुली नखे!
कदा करिष्यसीह मां कृपाकटाक्षभाजनम्॥
मखेश्वरि! क्रियेश्वरी! स्वधेश्वरि! स्वरेश्वरि!
त्रिदेवभारतीश्वरि! प्रमाणशासनेश्वरि!
रमेश्वरि! क्षमेश्वरि! प्रमोदकाननेश्वरि!
व्रजेश्वरि! व्रजाधिपेशि! राधिके! नमोऽस्तु ते॥[4]

रेवेश्वररञ्जना

इस स्तोत्रकाव्य के अन्य अभिधान रञ्जनानाथरञ्जना और सम्पूर्णमुक्तिशतक भी है। यह रचना महाशिवरात्रि सन् 1998 ई. में लेखक द्वारा प्रकाशित है जिसकी भूमिका का लेखन प्रसिद्ध विद्वान् पं.. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने किया है। काव्य में कुल 111 पद्य है। बसन्ततिलका छन्द में प्रतिपद उच्चरित भावों का क्रम एवं आरोह अवरोह सहृदयों भक्तों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाला है। कवि ने अन्त:करण में उल्लसित भावतरङ्ग को विचार स्वातन्त्र्य के पक्षधर होते हुये भी शास्त्रीय मर्यादों से बाहर नहीं जाने दिया है। प्राथमिक दो पद्यों में स्तोता भगवान की महिमा को जानता हुआ भी परिहासगर्भस्तोत्र के ब्याज से निवेदन करता है कि विश्व की एकमात्र सौन्दर्यवती पार्वती के प्रणयी होते हुये भी आपकी रतिनर्मदा (रेवा) के जघन स्थल में क्यों है, अथवा दिगम्बर वनवासी होते हुये भी नर्मदा का आश्रय लिये हुये हैं ! तदनन्तर कुछ पद्यों में शिव सुन्दरी के उपासना वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है। बीच बीच में सांसारिक विषयों चरित्रों पर भी कवित्वपूर्ण आक्षेप किये गये है—आत्मविमर्श की धाराओं में विविध वृतान्तों का आलोचन किया गया है। भक्तिमार्ग में आज कुछ विपरीत चरित्र वाले भी प्रविष्ट हो गये है तो उनका चरित्र विश्वसनीय कैसे हो सकता है। क्या श्री विद्या भवानी की उन पर भी कृपा होती है, यह प्रश्न कवि उठाता है। पद्य 35 से कवि द्वारा जन्मान्तरीय सम्बन्ध, माया द्वारा व्यतिक्रम, सांसारिक दु:खोपलब्धि तथा बन्धन को काटने वाले मोक्ष की कामना आदि का वर्णन है, किन्तु मोक्ष तो उससे भी परतर विशेष विश्रान्तिरूप है। इस स्तोत्र में लौकिक-अलौकिक पदार्थ विचार, प्रमाण विचार एवं मोक्ष के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसी में श्रीविद्या भगवती के स्वरूप का तन्त्रोक्त वर्णन किया गया है। नित्यमुक्त परमपुरुष शिव तथा शक्ति के आचरण का गुणगान करते हुये त्रिविध तापों से मुक्ति, निवृति के विषय में शास्त्रसम्मत और स्वतन्त्र विचारों का संग्रह इस स्तोत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है। कतिपय पद्य द्रष्टव्य है—

सम्मोहनं जघनयोर्ननु नर्मदाया:
श्रीसुन्दरीश्वर! तवापि समुत्थितं किम्!
यत्पार्वतीप्रणयपाणिगतोऽपि लग्नो
लिङ्गात्मकेन वपुषा किल तत्कलाङ्के ॥

गन्धर्वयज्ञरमणी परिरम्भणीयो
यत्र प्रवाति पवन: शनकैर्वसन्ते
तन्नर्मदा पुलिनपादपपुञ्जमध्ये
मन्दारमन्दिरगतं शिवमानतोऽस्मि॥
सौभाग्यतो यदि भवत्कृपया शिवेऽहं
प्राप्तास्मि शान्ति सुखवज्जननान्तराणि।
अस्यां जनौ सह मयाऽति विपत्सहानां
सङ्गं भविष्य सुखि जन्मसु चापि याचे॥
त्वत्पादपङ्कजतले वसतोऽपि यन्मे
चेतस्युदग्र उदित: प्रसभं विषाद:।
तल्लक्षणं वरद! मे प्रभुताऽऽपदाया-
स्त्वञ्चैव तन्निरसने तरसा समर्थ:॥[5]

श्री रासनायक स्तव

इस स्तोत्र का प्रकाशन स्वयं मिश्र जी ने किया है, जिसके पूर्व में डॉ. राधाकृष्णन, बटुकनाथ ख्रिस्ते आदि अनेक विभूतियों के शुभाशंसन संलग्न है। इस स्तोत्र में रासलीला के नायक श्री नन्दकिशोर की स्तुति अभ्यर्थना है। रास जीवात्मा तथा परमात्मा के मिलन, अद्वैत का प्रतीक है। भक्तो के उर की व्यथा तथा समस्तपापों को नष्ट करने वाले गोपियों के अभिवादक वेणुधर यमुनातट पर विचरने वाले गोपाङ्गनाओं के साथ लास्य करने वाले करुणा वरुणालय ब्रजराज नन्दकिशोर के स्तवन के दो पद्य प्रस्तुत है—

नमामि भाग्यवायकं प्रपन्नसौख्यधामकं
मयूरपिच्छमौलिमुग्धमाणवाधिनायकम्।
परप्रवीणगायकं परास्तपञ्चसायकं
व्रजाटवीनिशीथलब्धषोडशीसहायकम्॥
प्रसिद्धसद्गुणावली विभूति सन्निधायकं
कुसङ्गसूतपापभूतपूतनाऽसुपायकम्।
समुद्रिकाद्यसुन्दरीसुरूपदर्पदायकं
जने कृपा विधायकं प्रणौमि रासनायकम्॥[6]

श्री कृष्णकृपाकटाक्ष

श्री कृष्णकृपा कटाक्ष 'स्तुतिरासनायकनायिकास्तव' ग्रन्थ में संगृहीत तथा प्रकाशित है। कामदेव का गर्व चूर करने वाले, गोपजनों का संकट हरने वाले गिरिवरधारी, इन्द्र का मानमर्दन करने वाले मन्दहास से युक्त, कमल नयन

श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी की इस स्तोत्र में मनोरम अभिवन्दना वर्णित है। इस स्तुतिकाव्य की हृदयग्राहिता दर्शनीय है—

सदैवपादपङ्कजं मदीयमानसे निजं
दधानमुत्तमालकं नमामि नन्दबालकम्।
समस्तदोषशोषणं समस्तलोकपोषणं
समस्तगोपमानसं नमामि नन्दलालसम्॥
समस्तगोपमोहनं हृदम्बुजैकमोदनं
नमामि कुञ्जमध्यगं प्रसन्नभानुशोभनम्।
निकामकामदायकं दृगन्तचारुसायकं
रसालवेणुगायकं नमामि कुञ्जनायकम्॥[7]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि पं.. सम्पूर्णदत्त मिश्र का यह स्तोत्रसाहित्य अपने आराध्य के गुणगान, आत्मदैत्य प्रकाशन के साथ-साथ अत्यन्त मनोहारी, काव्यात्मक सौन्दर्य से सर्वथा परिपूर्ण है। यह साहित्य अपनी सरस अनुपम पदशरूया तथा पदमाधुरी, स्वाभाविक अलंकारयोजना, सफल तथा रसानुकूल गुणाभिव्यञ्जकता, आदि धर्मों से युक्त है। यह आस्वादन तथा अनुभूति के स्तर पर पूर्ण सक्षम तथा भक्तिरसपरिपूर्ण साहित्य है।

सन्दर्भ

1. *बीसवीं शती का राजस्थानीय संस्कृत स्तोत्र साहित्य*; डा. नीरज शर्मा,राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, 2011
2. *'कामाक्षावरदस्तव'* की छायाप्रति श्री सम्पूर्णदत्त मिश्र द्वारा लेखक को प्रदान की गई।
3. *रासनायिकास्तव* पद्य, 5
4. *राधाकृपाकटाक्ष* पद्य, 11, 12
5. *रेवेश्वर रञ्जना,* सम्पूर्णदत्त मिश्र पद्य, 1, 3, 59, 98
6. *रासनायक नायिका स्तव पद्य* 7, 8
7. *श्री कृष्णकृपाकटाक्ष* पद्य, 4,7

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर-313001
चलवाणी- 9414292699
आवास- सी-6 दुर्गानर्सरी रोड,
उदयपुर-1

आचार्य मधुकरशास्त्री कृत आगमिक स्तुति *श्रीमातृलहरी*

डॉ. स्मिता शर्मा

राजस्थानीय संस्कृत आधुनिक विद्वानों में आचार्य मधुकरशास्त्री का संस्कृत जगत् को विशिष्ट योगदान रहा है। श्री मधुकर शास्त्री का वास्तविक नाम श्री नाथूलाल त्रिवेदी था, किन्तु संस्कृत साहित्य जगत् में उन्हें मधुकरशास्त्री के नाम से जाना जाता है। श्री नाथूलाल त्रिवेदी मधुकरशास्त्री जयपुर की संस्कृत पण्डित-परम्परा के विशिष्ट विद्वान् एवं कवि हैं। जयपुर के निकट ग्राम रामपुरा-डाबडी में विख्यात विद्वत्कुल में पण्डित घासीलाल जी के सुपुत्र के रूप में श्री नाथूलाल त्रिवेदी का जन्म श्री मधुकर शास्त्री का जन्म 15 जून सन् 1931 को हुआ। परम्परागत रूप से आप विप्रवंश में गौडब्राह्मण तथा शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा के अध्येता है। अध्ययन काल में आपकी शिक्षा मुख्यरूप से पंडित दीनानाथ त्रिवेदी 'मधुप' के सान्निध्य में सम्पन्न हुई जिन्होंने आपको 'मधुकर' नाम दिया। आपको जयपुर के मूर्धन्य विद्वान् पण्डित पटटाभिराम शास्त्री का भी आशीर्वाद प्राप्त हुआ। जयपुर स्थित महाराज संस्कृत कॉलेज एवं श्री दादू महाविद्यालय में आपने ज्ञानार्जन किया। आचार्य मधुकर शास्त्री प्रखर मेधा सम्पन्न अत्यन्त और परिश्रमी थे अत: अध्ययन काल में अपने गुरुजनों के स्नेहभाजन बने और उनका भरपूर आशीर्वाद प्राप्त किया। त्रयोदश वर्ष की आयु से ही श्री शास्त्री ने काव्य रचनाकर्म प्रारंभ कर दिया था। श्री शास्त्री की रचनायें जयपुर के *संस्कृत रत्नाकर*, अयोध्या से प्रकाशित *साप्ताहिक*, उज्जैन के *मालवमयूर*, वाराणसी के *सूर्योदय* आदि पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित होती थी ।**1**

आचार्य मधुकर शास्त्री ने अध्ययन, के उपरान्त अपनी रूचि के अनुरूप प्राचीन भारतीय विद्याओं में सतत अनुराग एवं गवेषणात्मक वृत्ति के कारण राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के अन्तर्गत गवेषक तथा शोधाधिकारी के पद पर अपनी सेवायें प्रदान की। आपने अधिकांश सेवावधि विभाग के कोटा शाखा-कार्यालय में यापित की है। राजकीय सेवारत रहते हुये आप निरन्तर सारस्वत समाराधना करते रहे तथा सेवानिवृत्ति के उपरान्त भी पूर्णरूप से भगवती सरस्वती के श्री चरणों में स्वयं को अर्पित कर दिया। आचार्य मधुकर शास्त्री ने भगवती सीता के चरित्र पर आधारित सत्रहसर्गात्मक *धरात्मजामहाकाव्य*, भगवान महावीर के जीवन-दर्शन पर आश्रित सोलहसर्गात्मक *महावीरसौरभम्* महाकाव्य,, महात्मा गाँधी के चरित्र पर केन्द्रित द्वादशसर्गात्मक *गान्धिगाथामहाकाव्य* का प्रणयन किया। *सुभाष गौरव*, *मातृलहरी*, *मारुति लहरी*, *अरूणरश्मय* आदि खण्डकाव्य एवं लहरीकाव्यों के लेखन के साथ शास्त्री जी ने *कुरआन शरीफ़* का संस्कृत

अनुवाद भी किया । आचार्य मधुकर शास्त्री ने पं रामनरेश त्रिपाठी की देशप्रेम पर अवलम्बित अनेक रचनाओं का संस्कृत अनुवाद भी किया ।

आचार्य मधुकर शास्त्री राजस्थान के सारस्वत समुपासकों की अग्रपंक्ति के विश्रुत विद्वान् है। शास्त्री जी ने निजी जीवन में निरन्तर संघर्ष करते हुये प्रचार-प्रदर्शन एवं आडम्बर से दूर रहकर मौन-साधना करते हुये सुरभारती की अनुपम सेवा की है। श्री शास्त्री को राजस्थान संस्कृत अकादमी का प्रसिद्ध अखिलभारतीय महाकवि माघ पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया है।

श्रीमातृलहरी : आचार्य मधुकर शास्त्री ने दक्षिणी राजस्थान के वागड़ क्षेत्र में, बांसवाडा में स्थित भगवती त्रिपुरसुन्दरी की समुपासना में इस लहरीकाव्य का प्रणयन किया है। शास्त्रीजी ने अपनी यह रचना राजस्थान के पूर्वमुख्यमंत्री हरिदेव जोशी के पिता, भगवती के यावज्जीवन समुपासक, तन्त्र-मन्त्र के विद्वान् पं. श्री पन्नालाल जोशी को समर्पित की है। थे। डॉ. चन्द्रधर शर्मा सेवानिवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय ने इस कृति पर शुभाशीर्वचन लिखा है तथा श्रीनटवर त्रिपाठी, जनसम्पर्क अधिकारी चित्तौड़गढ ने माता त्रिपुरसुन्दरी का माहात्म्य प्रस्तुत किया है।

इस स्तोत्र लहरीकाव्य की उपास्या भगवती महात्रिपुर सुन्दरी शक्तिपीठ के सम्बन्ध में *राजस्थान लहरी लीलायितम्* में प्रो. प्रभाकर शास्त्री ने जो जानकारी प्रदान की है उसके अनुसार उमरई गाँव के पास सागवान के जंगल के मध्यनिर्मित इस मन्दिर में अष्टादश भुजधारिणी पराम्बा भगवती का श्री विग्रह है जो त्रिपुरा सुन्दरी, तरतईमाता या त्रिपुरा महालक्ष्मी के नाम से सुविख्यात है। यह एक प्राचीन शक्ति स्थल है। ऐसा माना जाता है कि बांसवाड़ा में जिस स्थान पर यह शक्ति पीठ स्थापित है वहाँ जगज्जननी माता सती के शिर का निपातन हुआ था। उस समय उनके शरीर के विभिन्न अंश 51 स्थानों पर गिरे थे जहाँ आज शक्तिपीठ माने जाते हैं। वर्तमान मन्दिर के समीप ही एक कनिष्क कालीन शिवलिंग भी है। इसी से इस स्थलकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। ऐतिहासिक साक्ष्य एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार इस स्थान का नाम पहले गढपोली था जिसका शुद्धस्वरूप दुर्गापुर है। इसके शासक का नाम नृसिंह शाह था जिसके 5 पुत्र थे। मन्दिर के निकट तीन दुर्ग थे। यहाँ जो शिलालेख प्राप्त हुआ है उसका समय 1540 संवत् है। यह उल्लेख शिलालेख से प्रमाणित है। मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि चान्दा भाई उर्फ पाताभाई (पंचाललुहार) ने संवत् 1157 में इसे बनवाया था तब से यह मंदिर पंचाल समाज के अधीन है। ऐसी जनश्रुति है कि पंजाब प्रान्त से आये पंचाल लोग संवत् 1102 में तरतई गांव के समीप लौह खदानों से लोहा निकालने का काम करते थे। एक दिन माँ तुलजाभवानी-त्रिपुरा सुन्दरी ने भिखारिन के वेश में वहाँ उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित करना चाहा किन्तु सभी अपने आपने कार्य में संलग्न रहे। भगवती ने अपमानित अनुभव कर विकराल रूप धारण कर लिया। खदान के ढह जाने से उसमें दबकर अनेक लोग कालकवलित हो गये। यह खदान आज भी

आगेखदान के नाम से प्रसिद्ध है। इसका जीर्णोद्धार पाताभाई ने करवाया था। पातेला का तालाब आज भी विद्यमान है। तलवाड़ा के पास विद्यमान प्राचीन मन्दिर इसकी पुरातन अवस्थिति को पुष्ट करते हैं।[2]

परमार शासकों के समय त्रिपुरासुन्दरी की पूजा की विशेष व्यवस्था थी। इस मंदिर में अनेक सहस्रचण्डी यज्ञ हुये हैं। यहाँ प्रचलित लोकगीतों से भी ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है। गुजरात के सम्राट् सिद्धराज एवं मालवा के महाराज विक्रमादित्य त्रिपुरा सुन्दरी के प्रमुख भक्त तथा साधक रहें है। यहाँ प्राप्त अनेक शिलालेख यहाँ के इतिहास को प्रमाणित करते हैं। आचार्य पं. मधुकर शास्त्री ने इन्हीं भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के स्तवन में इस लहरी काव्य का प्रणयन किया है। वर्णमयी माता के स्तवन में 50पद्यों में यह रचना लिखी गयी है। इस लहरी में शाक्ततन्त्र-मन्त्र के अनेक रहस्यों का वर्णन एवं उद्घाटन किया गया है। शाक्त उपासना में मन्त्रप्रयोग, अङ्गन्यास, वर्णन्यास, ध्यान मुद्रायें, जपादि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन्त्र में शक्ति तत्त्व का विन्यास बीज के साथ ही सम्पन्न होता है अत: वर्णबीज को भगवती के स्वरूप को प्रकट करने वाला माना जाता है। साधक के द्वारा भगवती की कृपा तथा सद्गुरु के निर्देश से ही बीजमन्त्रों में व्याप्त अनन्त रहस्यों का प्रकाश जाना जा सकता है। आचार्य मधुकरशास्त्री ने सर्वमङ्गलकारिणी, सर्वसुखकारिणी, जगज्जननी भगवती महात्रिपुरा सुन्दरी के लोक विख्यात दिव्य रूप-गुणकर्मादि का मनोहारी वर्णन इस लहरीकाव्य में किया है।[3]

इस लहरी के प्रारम्भ में जगदम्बा त्रिपुर सुन्दरी के स्वरूप सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। वह भगवती श्रीमाता त्रिपुरसुन्दरी अपने शरीर में तीनों लोकों के महासौन्दर्य के समुद्र-मन्थन से उत्पन्न अमृत प्राचुर्य से देदीप्यमान वर्ण वाली, उदित होते हुये सहस्रों सूर्यों के तुल्य तथा नवविकसित जपा-पुष्पों की शोभा को धारण करने वाली है। कवि अपने अन्त:करण में त्रिलोक-निलय आलोकमय वाङ्मय के स्फुरण की प्रार्थना करता है—

श्रीमातस्त्रिपुरे! परात्परतरे! देवि! त्रिलोकीमहा-
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्वलम्।
उद्यद्भानुसहस्रनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपु:
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्॥[4]

अ से लेकर क्ष वर्ण पर्यन्त समस्त वर्णों की मणिमाला में भगवती की ही वितान प्रभा विद्यमान है। वह भगवती ब्रह्माण्डरूपी कमलासन पर विराजमान तथा चिन्मयस्वरूपा है। महापीतकमल के त्रिकोण के महामध्य में वही जगज्जननी शोभित है—

आदिक्षान्तसमस्तवर्णसुमणिप्रोते! वितानप्रभे!
ब्रह्मादिप्रतिभाभिकीलितषडाधारब्जकक्षोन्नते!
ब्रह्माण्डाब्जमहासने! जननि! ते मूर्तिं भजे चिन्मयीम्
सौषुम्णायतपीतपङ्कजमहामध्यत्रिकोणस्थिताम् ।।[5]

भगवती के कृपाप्रसाद से ही वाणी का समस्त वैभव, वेदादि विद्याएँ, भाषा, छन्द, सप्तस्वर, ताल, और ध्वनि का उद्भव हुआ है। सभी पद और वाक्यों का बीज उसी में अन्तर्निहित है । त्रिलोकी में व्याप्त तन्त्र-मन्त्र की महिमा को आपके बीज के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता, समस्त व्यवहार जाल भी इसी का परिणाम है। बुद्धिमान्, पुण्यवन्त लोग उसके जप, स्मरण, उपासना करते हुये शब्द ब्रह्म के साक्षात् निवास भूत होकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेते हैं।[6]

भगवती पराम्बा आत्मप्रभाव से भक्तों की समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करती है। यह बुद्धि की जड़ता का निवारण करके उसमें दिव्य ज्योति का प्रबोध भरती है। माता अष्ट प्रकृति के रूप में अत्यन्त व्यापक स्वरूप वाली होकर विराजमान है उसके चार प्रकार के स्वरूप कुण्डलिनी शक्ति को विस्तृत करते हैं भगवती के अनुग्रह से अनेक जन्म जन्मान्तर की अविद्या और पाप कर्म सन्देह समूह ज्ञान अग्नि से भस्म हो जाते हैं।

कामेश्वरी भगवती जगदंबा की कृपा से चित्त में उठती हुई अनन्त कामनाएँ और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य छह शत्रु अपने जड़ सहित नष्ट हो जाते हैं । भगवती की कृपा से भक्तों के समस्त कामनाएँ पूरी होती है उनके प्रभाव से अज्ञान का अन्धकार नष्ट होता है तथा ज्ञान का प्रकाश प्रबोध होता है। वेदों में त्रिमात्रात्मक ॐ के द्वारा श्रीविद्या कामेश्वरी के दिव्य स्वरूप का ही अनुगान है। भगवती का बीज समस्त वागर्थ व्यवहार का कारण,है। ऐसी भगवती श्रीविद्या ने सबको अपने वशीभूत कर लिया है उसका मैं निरन्तर भजन करता हूँ ।[7]

भगवती सृष्टि में स्थिति अनन्त शक्तियों का आधार महाचैतन्यरूपा है। भक्तकवि भगवती के मध्यम बीज का गुण कीर्तन करते हुए निवेदन करते हैं कि यह आदित्यवर्ण वाला है इसी से ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति के रूप में अनन्त शक्ति वैभव की उत्पत्ति होती है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय, सभी भगवती के आत्मप्रसाद से सम्पन्न होते हैं। पराम्बा के वर्णबीज का स्मरण करके ही ब्रह्म-विष्णु-महेश सर्ग-स्थिति-प्रलयादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। यह बीज तीनों गुणों की प्रवृत्ति का जनक तथा शान्त योगियों के द्वारा सत्य एवं ब्रह्मतत्त्व के रूप में उपास्य होता है। जो व्यक्ति भगवती के मातृकाक्षर सौभाग्यविद्या का जाप करता है उसकी मेधा में सन्ध्याग्नि की प्रभा के समान महाचक्रराज स्वामिनी कामेश्वरी भगवती की सिद्धि सर्वत्र प्रकाशित होती है—

नित्यं यस्तव मातृकाक्षरसखीं सौभाग्यविद्यां जपेत्
सम्पूज्याखिलचक्रराजनिलयां सायन्तनाग्निप्रभाम्।
कामाख्यं शिवनामतत्त्वमुभयं व्याप्यात्मना सर्वतो
दीव्यन्तीमिह तस्य सिद्धिरचिरात् स्यात् तत्स्वरूपैकता॥[8]

भगवती के कृपा प्रसाद के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन करते हुये निवेदन है कि जब तक श्री भगवती के चरण कमलों में रति न हो तब तक सुकविता का जन्म होना भी सम्भव नहीं है। उन्हीं के कृपा

प्रसाद से सांसारिक जीवन में ही मनुष्य का घर स्वर्ग बन सकता है बन जाता है, गर्व से उद्धत मनुष्य झुक जाता है, स्त्री के संसर्ग के बाद भी मुक्ति प्राप्त होती है, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, पाप पुण्य में बदल जाते हैं और राजा भी भगवती की कृपा प्रसाद से भक्तों के सम्मुख झुक जाते हैं। श्रीमाता के जिन चरण कमलों का आश्रय प्राप्त करने से मृत्यु स्वयं वैद्य बनकर के उपचार करती है, दूषण सुन्दर गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं ऐसी भगवान गिरीश की प्रिया भवभय नष्ट करने वाली श्रीमती गौरी के चरण कमलों का मैं निरन्तर सेवन करता हूँ—

गेहं नाकति गर्वितः प्रणमति स्त्रीसंगमो मोक्षति
द्वेषी मित्रति पातकं सुकृतति क्ष्मावल्लभो दासति।
मृत्युर्वैद्यति दूषणं सुगुणति त्वत्पादसंसेवनात्
त्वां वन्दे भवभीतिभञ्जनकरीं गौरीं गिरीशप्रियाम्।।[9]

कवि ने भगवती के 'त्रिपुरा' नाम के रहस्य का भी वर्णन करते हुए कहते है कि हे माता! आपके चरणों के अतुलनीय रक्त और श्वेत कांति के साथ मिलकर के अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के त्रिलिङ्ग बिम्ब के द्वारा तीनों काल, तीनो लोक, तीनों वेद, तीनों अवस्थाएँ और देवतादि के द्वारा जो प्रकट त्रिपुरा नाम है उसका उच्चारण करता हुआ बुद्धिमान मनुष्य धन्यता को प्राप्त होता है।[10] आचार्य मधुकर शास्त्री ने श्री आत्म निवेदन में श्रीविद्या कुल-कुण्डलिनी के तान्त्रिक रहस्य, वर्ण, बीज, मातृका के स्वरूप महत्त्व और परिणाम का वर्णन किया है। श्रीविद्या के जाप में पंचम स्वर तथा पवर्ग की सर्वोत्कृष्ट वाचकता और हृदय में स्थित उसकी महाविभूति और भ्रूमध्य में प्रणवता को भी रेखांकित किया गया है। आगम शास्त्रों प्रगीत तुरीयसहित शशिरगायत्री, सर्वकल्याणमयी ब्राह्मकर्मेश्वरी परमेश्वरी का माहात्म्य भी यहाँ निरूपित किया गया है।[11] ब्रह्मवेत्ता तथा मुक्त पुरुषों की संसिद्धि भगवती के कृपा प्रसाद से ही सम्भव है। वह सच्चिदानन्दस्वरूपा श्री शिवा-शाम्भवी श्री विद्यारूपा है। वह सभी भूतों में विराजमान है वह चिद्रूपा है गति-शक्ति एवं भक्ति विभव से सर्वत्र सुशोभित हो रही है। समस्त संसार चक्र की वही संचालिका है। वही पृथ्वी का एकमात्र आधार है—

त्वं भूतेषु विराजसे त्रिभुवनश्रद्धामनीषाऽऽत्मना
चिद्रूपागतिशक्तिभक्तिविभवा सर्वत्र सम्भ्राजसे।
त्वत्संचालितमेतदस्ति सकलं संसारचक्रञ्चलत्
किं ब्रूयाम? त्वमिव त्वमेव निखिलाधारस्वरूपा भुवि॥[12]

आत्मदैन्य प्रकाशन करते हुये स्तोता प्रार्थना करता है कि मैं हजारों नाना योनियों में उत्पन्न हुआ कितने ही माता-पिता हुये तथा होंगे इसकी कोई गणना नहीं है इस महान् संसार-सागर से भयभीत होकर आपकी अनन्य शरणागति प्राप्त करता हूँ। भगवती की कृपा प्रसाद से ही साधक के मूलाधार से लेकर विशुद्धि पर्यन्त शब्दात्मिका सृष्टि और उसकी विद्या का तप-प्रभाव प्रकट होता है। श्रुति-स्मृति आदि में सर्वत्र भगवती की महिमा गाई गई है, इन्हीं के कृपा प्रसाद से ब्रह्मा आदि देवताओं को अपने अभीष्ट फलों की प्राप्ति होती है।

भगवती का ही यह चक्रात्मक संसार है और श्रुतिमूलकोषात्मक श्रीचक्र विख्यात है जिसके ऊपर सर्वत्र प्रकाशमान ज्योतिर्मय अक्षरशिव विराजमान है, ऐसे मन्त्रमय श्री चक्र के मध्यबिन्दु पीठ पर ललिताम्बिका ब्रह्मविद्या शिवा सुशोभित होती है—

मूलाधारत आविशुद्धिवितनां सृष्टिं नु शब्दात्मिकां,
विद्यायास्तपसः प्रभावमहिते पात्रे जने कुर्वती।
श्रौतस्मार्तसुवाक्यगीतमहिमा ज्योतिः कदम्बात्मिका,
त्वं ब्रह्मादिसुरेभ्य ईप्सिततमानर्थान् प्रदत्से स्तुता ॥
श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोष इति ते संसारचक्रात्मकं
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवं ज्योतिर्मयं सर्वतः।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररूणं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते! त्वं ब्रह्मविद्या शिवे॥[13]

उदीयमान हजारों सूर्यों के समान दीप्तपरम सौन्दर्य की सारभूता, समस्त उपमाओं से अगोचर जाज्वल्यमान नाना विभूषणों से सुशोभित भगवती त्रिपुरा सुन्दरी हृदय में निवास करे, ऐसी स्तोता की याचना है। वाग्रूपिणी भगवती का स्वरूप मूलाधार में ज्योतिमय परा वाणी के रूप में मणिपूरचक्र में पश्यन्ती नामवाली वाणी के रूप में, हृदयप्रदेश में वह 'मध्यमा' तथा कण्ठदेश में वह 'वैखरी' नाम से शब्द ब्रह्म विवर्तरूपा है—

मूले दीपकलादिरम्यविभवा मातः! परा राजसे
तद्रूपापसृतेश्शुभे मणिपुरे पश्यन्त्यभिख्या तथा।
स्वान्ते मध्यमनामिका च विततता कण्ठे तता वैखरी
शब्दब्रह्मविवर्तभूर्विजयसे वाग्रूपिणी त्वं सदा॥

माँ भारती के रूप में स्मरण किये जाने वाली यही भगवती सत्कवित्व प्रदान करने वाली होती है। भगवती की कृपा से वेदविद्या नियत वैदुष्य की प्राप्ति, योगनिष्ठ, धर्माधर्म विचार-प्रचार प्रगल्भता, अक्षय धन सम्पदा, लोककल्याण वैशद्य प्राप्त होता है। भगवती का स्तवन करने से स्तोता के मन्द मतित्व का नाश होकर प्रखर पाण्डित्य का विकास होता है, वाणी में अपूर्व वक्तृत्व होकर वह वाचस्पति पद पर अधिष्ठित हो जाता है। दुःख दारिद्र्य तथा सांसारिक भय से सर्वथा मुक्ति प्राप्त होती है शीघ्र ही समस्य ऐश्वर्य, सुख प्राप्त हो जाते हैं। *श्री मातृलहरी* के उत्तरार्ध के पद्य भक्तिरस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। माता के करुणाकटाक्ष का अभिलाषी भक्त स्तवन के द्वारा आराध्य का सर्वतो भावेन उच्चाशय अपनी अनन्यशरणागति विनम्रप्रपत्ति को मातृ-शिशु सम्बन्ध से निवेदन करता है। आचार्य मधुकर शास्त्री भगवती के भक्त के रूप में प्रार्थना करते हुए कहते है कि हैं कि हे मातः! आपकी कृपा कटाक्ष से ही संसार के समस्त सुख प्राप्त हो सकते हैं, आपकी कृपा से ही हृदय में शान्ति की प्राप्ति होती है, त्रिलोक विजय भी भगवती की कृपा से ही होना सम्भव है। हे मातः

समस्त पाप संतानों को नष्ट करके सदा मेरे मानस कमल पर विहार कीजिए। हे भगवती मोह के महा अन्धकार समुद्र में डूब गया हूँ मेरा हृदय पाप के कलंक से मग्न है, कर्तव्य-अकर्तव्य के बोध से शून्य हो गया हूँ, मुझे मार्ग नहीं सूझ रहा है, हे देवी! अपनी करुणापूर्ण दृष्टि से कृपया मुझे प्रकाशित करें—

मातः! ख्यातः प्रशस्तः सकलसुखकृतौ त्वकृपाया अपाङ्गं,
स्वान्तं शान्तं नितान्तं क्षम इह सततं मे विधातुं स एव ।
क्रोडीकृत्य प्रकामं भुवि सुविजयसेऽम्ब ! त्रिलोकीं त्वमेव
पापं तापं समस्तं हर, विहर सदा मानसाऽब्जे मदीये ॥
मातः ! सोऽहमिहास्मि सम्प्रति महामोहान्धकारार्णवे,
मग्नः पापकलङ्कमग्नहृदयः कर्त्तव्यमूढो भृशम् ।
नो जाने सुपथं न वाप्यवितथं मिथ्या च किं विष्टपे?
तन्मां त्वं करुणार्द्रया निजदृशा वीक्ष्य प्रकाशं कुरु ॥[14]

इस लहरी काव्य के अन्तिम पन्द्रह पद्यों में भक्त कवि का आत्मदैन्य और उसके हृदय की पुकार निरूपित है। भक्त कहता है कि हे माता धन, धान्य, वस्त्र, वैभव, सम्पत्ति कुछ भी तुम्हारे अनुग्रह के बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है। हे भगवती! मैं इस संसार के उत्कट महाशोक से मुक्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। अपनी दयापूर्ण अमृतमयी दृष्टि से एक बार मुझे देखिए। अपनी जननी के वियोग में विकल होकर इस संसार में मैं दीनता को प्राप्त हो गया हूँ, इस संसार सागर में भीषणतम मकरादि के प्रहार से में विपन्न हो गया हूँ, कौन अपना है और कौन पराया यह बोध भी अब मुझे नहीं रहा है, हे माँ! मुझ असहाय को अपना शरणागत जानकर उसकी रक्षा करो—

विस्फूर्जज्जननीवियोगविकलो लोकेऽत्र दीनोऽस्म्यहं,
संसारार्णवनक्रभीषणतमाऽऽघातैर्विपन्नोऽस्म्यहम् ।
कस्स्वः कश्च परो नरोऽस्ति म इति प्रज्ञानहीनोऽस्म्यहं
मातस्त्वमसहायकायहृदयं पाहि प्रपन्नोऽस्म्यहम् ॥[15]

इस *श्रीमातृलहरी* के बावन पद्यों में से अन्तिम छह श्लोकों में कवि का आत्मपरिचय और इस स्तोत्र काव्य की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। स्वस्थ हृदय और शुचिता पूर्वक जो कोई भी मनुष्य त्रिकाल सन्ध्या करते हुए भगवती त्रिपुर सुन्दरी का निरन्तर कीर्तन करता है उसे रिद्धि, सिद्धि, विजय, भोग योग, आनन्द, विद्वत्ता और ख्याति प्राप्त होती है। *श्रीमातृलहरी* श्रेय और प्रेय दोनों प्रदान करने वाली है, भुक्ति और मुक्ति दोनों इससे प्राप्त होती है। दुर्बुद्धि का नाश हो सुबुद्धि की विजय के साथ ही दुष्टों का सर्वनाश और सज्जनों के चित्त में में प्रसन्नता के लिए *श्रीमातृलहरी* स्तोत्र जगदम्बा त्रिपुरसुन्दरी को समर्पित किया गया है—

इत्थं स्वस्थं हृदयमनघं संदधद् यस्त्रिसन्ध्यं,
मातः स्नातः शुचिरुचिरलं कीर्तयेत् त्वामजस्रम् ।
ऋद्धः सिद्धः सकलविजयी भोगयोगप्रकृष्टः
मुद्वान् विद्वान् भवति सुकविः ख्यातनामा पुमान् सः ॥[16]

श्रीमातृलहरी भगवती शक्ति त्रिपुरसुन्दरी के तन्त्रसाधनोक्त उपासना विधि की अमूल्य काव्यनिधि है। इसमें वाग्भवा चिद्रूपा राजराजेश्वरी, कामेश्वरी, श्रीचक्रअधीश्वरी, महामाया भक्तवत्सला, करुणैकनिलया, जगदीश्वरी के दिव्य गुणों का मनोहारी वर्णन किया गया है। शाक्तस्तोत्रों में श्री *श्रीमातृलहरी* का अन्यतम स्थान है।

सन्दर्भ

1. *राजस्थान का संस्कृत स्तोत्र साहित्य;* डा.नीरज शर्मा, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केंद्र, जयपुर, 2011, पृ.68
2. *राजस्थान लहरी लीलायितम्;* प्रो. प्रभाकर शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, 1996, पृ.234
3. *राजस्थान का संस्कृत लहरीसाहित्य;* डा. हिमा दाधीच, कोटा विश्वविद्यालय,कोटा (शोधप्रबंध) पृ. 219
4. *श्रीमातृलहरी* 1; राजस्थान लहरी लीलायितम्; प्रो. प्रभाकर शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी,
5. *श्रीमातृलहरी* 2; वही
6. *श्रीमातृलहरी* 3, 4; वही
7. *श्रीमातृलहरी* 6, 7; वही
8. *श्रीमातृलहरी* 15; वही
9. *श्रीमातृलहरी* 17; वही
10. *श्रीमातृलहरी* 18; वही
11. *श्रीमातृलहरी* 20; वही
12. *श्रीमातृलहरी* 24; वही
13. *श्रीमातृलहरी* 28, 30; वही
14. *श्रीमातृलहरी* 40, 44; वही
15. *श्रीमातृलहरी* 42; वही
16. *श्रीमातृलहरी* 47; वही

संस्कृत विभाग,
श्रीकल्लाजी वैदिक विश्वविद्यालय,
कल्याणलोक, जावदा
निम्बाहेड़ा-312601 (जिला-चित्तौड़गढ)
राजस्थान।

बाला त्रिपुरा मन्त्र का पौराणिक सम्बन्ध

श्रुति एच.जानी

बाला त्रिपुरा मन्त्र तन्त्र ग्रन्थों में सब से महत्त्वपूर्ण श्रीविद्या की साधना की शुरूआत बाला से होती है। बाला त्रिपुरा का मन्त्र तीन बीज मन्त्रों से बनता है और ये तीन बीज मन्त्र त्रितारी विद्या से भी जाना जाता है। *ज्ञानार्णवतन्त्र* में द्वितीय पटल में बाला मन्त्र का उद्धार निम्नलिखित रूप से है—

त्रिपुरा त्रिविधा देवि बालां तु प्रथमं शृणु।
यया विज्ञातया देवि साक्षात्सुरगुरुर्भवेत् ।।
सूर्यस्वरं समुच्चार्य बिन्दुनादकलान्वितम् ।
स्वरान्तं पृथिवीयुक्तं तूर्यस्वरविभूषितम् ।।
बिन्दुनादकलाक्रान्तं सर्गवान्भृगुरव्ययः ।
शक्रस्वरसमोपेतो विद्येयं त्र्यक्षरी मता।।[1]

बिन्दुनाद कला से युक्त सूर्य स्वर अर्थात् ऐं, पृथ्वीबीज 'ल' से युक्त जिसके पहले 'क' आता हो, और चतुर्थ स्वर से युक्त हो, अनुस्वार से युक्त हो अर्थात् क्लीं बीज । सर्गवान विसर्ग (स्) से युक्त भृगु और शक्रस्वर से युक्त अर्थात् 'सौ' इस तरह ऐं, क्लीं, सौः – ये तीनः बीज मन्त्र त्रितारी विद्या या बाला त्रिपुरा का मन्त्र है। त्रिपुरा के तीन भेद माने गए हैं । उसमें बाला प्रथम है।[2]

लघुस्तव में भी बाला के तीन बीज मन्त्रों का भव्य और उदात्त वर्णन है। जैसाकि—

आधारे तरुणार्कबिम्बरुधिरं हेमप्रभं वाग्भवं
बीजं मान्मथमिन्द्रगोपकनिभं हृत्पङ्कजे संस्थितम् ।
रन्ध्रे ब्रह्मपदे च शाक्तमपरं चन्द्रप्रभा भासुरं
ये ध्यायन्ति पदत्रयं तव शिवे ते यान्ति सौख्यं परम् ।।[3]

वाणी की उत्पत्ति मूलाधारचक्र में होती है। वाग्भवबीज अर्थात् 'ऐं' वाणी का बीज है। *केनउपनिषद्* में उमा हैमवती की कथा आती है। उमा हैमवती ही देवों को ब्रह्म का ज्ञान कराती है। निष्कल ब्रह्म कलारहित है और वह अव्याख्येय, अनिर्वचनीय पद है। ब्रह्म के दो स्वरूप है निष्कल और सकल । सकल को शबल भी कहा जा सकता है। शबल का अर्थ है, चित्र-विचित्र आभा से युक्त। विविध रङ्ग वाली गाय को शबला कहा जाता है। वही कामधेनु या इच्छाशक्ति है।[4] *बृहदारण्यक उपनिषद्* में कहा है 'स ऐक्षत'।[5]

नासदीयसूक्त में कहा गया है कि जब सृष्टि नही थी तब केवल अन्धकार ही था। ब्रह्म स्वयं स्वात्मानन्द में लीन था। उसीको ही शिव की समाधि और विष्णु की निद्रावस्था कहा गया है। गाढ सुषुप्ति की यह अवस्था में सृष्टि नहीं थी, स्थिति नही थी, प्रलय भी नहीं था। उसी समय सृष्टि का सर्जन हुआ तब प्रथम बीज की उत्पत्ति हुई । शब्दोत्पत्ति के स्फोट से ब्रह्म आत्मलीन अवस्था को त्याग कर सृष्टि को अपने अन्दर देखने लगा। व्याकरण का स्फोटवाद भी यह सूचित करता है। ब्रह्म ने बाग्बीज से प्रेरित होकर अपने आप को देखने की कोशिश की अतः शङ्कराचार्य ने *दक्षिणामूर्ति स्तोत्र* के प्रथम श्लोक में कहा है कि इस विश्व को दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान अपने अन्दर देखकर ब्रह्म ने अपने महिमा का अपने भीतर अनुभव किया।[6] ब्रह्म विराट् सृष्टि का सर्जक है और हमारी पृथ्वी छोटी सी सृष्टि है। मकरन्द दवे कहते है कि हम भी गाढ़ निद्रा से जागते है तब अपने शरीर को देखते है, अपने स्वरूप को देखते है उसी तरह 'ऐं' बीज से ब्रह्म को अपने अन्दर ज्ञान होता है।[7]

'ऐं' बीज ज्ञान का प्रतीक है। वाणी भी ज्ञान का अधिष्ठान है। इसलिए कहा गया है कि *ज्ञानाधिष्ठानम् मातृका।*[8] कोई भी शिशु जब जन्म लेता है तब सबसे पहले रूदन करता है। उस रूदन का स्वर भी 'ऐ' होता है। संस्कृत मातृका भी 'अ' से शुरू होती है, अंग्रेजी भी 'A' से शुरू होती है।

ब्रह्म की विस्तृत सृष्टि का आविर्भाव 'ऐं' से होता है। इसलिए सृष्टि जब योगनिद्रा से जागृत होती है तब 'ऐं' बीज उत्पन्न होता है वही 'ईक्षण' का हि अन्य स्वरूप है। क्लीं बीज दूसरा बीज है। क्लीं बीज कामेश्वर बीज कहा जाता है। यह बीज को कृष्णबीज और कालीबीज भी माना जाता है। 'कृष्णः तु कालिका स्वयम्।' ऐसा तन्त्र में माना जाता है। 'कामबीज' कामना का प्रतीक है।

बृहद् आरण्यक उपनिषद् का कथन है कि—**सोऽकामयत**।[10]

ब्रह्म ने अपने आपको अकेले देखा तब उनके मन मे 'एकोऽहं बहुस्याम्' ऐसी भावना हुई। इस तरह ईश्वर ने अनेक होने की माया रची। वस्तुतः अनेक तो केवल एक का प्रतिबिम्ब है। इसी तरह कामबीज इच्छा का प्रतीक है यही—परमेश्वरी की इच्छाशक्ति है।

तीसरा बीज है—'सौः'। यह बीज कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करनेवाला ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्र जैसा बीज है—*लघुस्तव* में वर्णन है कि उसकी कान्ति चन्द्र के किरणों जैसी है।[11] *बृहद् आरण्यक उपनिषद्* में कथन है कि 'स तपोऽतप्यत।'[12] तप में कर्म समाविष्ट है इसीलिए 'सौः' बीज क्रियाशक्ति का प्रतीक है।

हमारे नम्र मत से भगवती त्रिपुरा ने यह त्रिगुणात्मक सृष्टि का निर्माण किया है। रुद्रग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और ब्रह्मग्रन्थि से यह सृष्टि बन्धनावस्था में है। इन तीन बीजों से ये तीन ग्रन्थियाँ खुल जाती है और परमेश्वरी का दर्शन होता है। इसीलिए 'सौ' बीज से सुषुम्णा का मार्ग प्रशस्त होता है। *श्रीमद्देवीभागवत* में वाग्बीज के उच्चारण से जो लाभ होता है उसकी एक कथा है।[13] इस कथा में कहा गया है कि 'उतथ्य' नामक एक

ब्राह्मण मूर्ख था। उसकी मूर्खता के कारण उसको बहुत पश्चात्ताप हआ और गङ्गा किनारे चौदह वर्ष तक वह निवास करके रहा। वह कभी झूठ नहीं बोलता था। इसीलिए उसका नाम सत्यव्रत हो गया। एकबार एक शिकारी वहाँ आया और उसने एक वराह को अपने बाण से मारा। वह वराह सत्यव्रत ब्राह्मण के आश्रम में आया। मुनि वराह को देखकर अतिशय दयार्द्र होके 'ए ए' ऐसा सरस्वती बीज बोल गए। शिकारी ने आकर उसको वराह के बारे में पूछा तब सरस्वती की कृपा से उसने प्रत्युत्तर दे दिया कि आँख देखती है मगर बोलती नहीं। जिह्वा बोलती है मगर वह देखती नहीं। इसीलिए है शिकारी! तुम मुझे बार बार न पूछो। इसी तरह सत्यव्रत पर शिवादेवी ने केवल एकबीज के श्रवणमात्र से कृपा करके दुर्लभ विद्या प्रदान कर दी और वह सर्वशास्त्र पारङ्गत हो गए। कामबीज के बारे में भी एक कथा देवी भागवत के पुराण में है।[14]

ध्रुवसन्धि नाम के राजा का पुत्र सुदर्शन था। ध्रुवसन्धि को दो पत्नियाँ थी—मनोरमा और लीलावती। सुदर्शन मनोरमा का पुत्र था। सौतेली माँ लीलावती ने सुदर्शन के लिए अनेक षड्यन्त्र किए, इसीलिए सुदर्शन को राज्यभ्रष्ट होना पड़ा। सुदर्शन अपनी माता के साथ भारद्वाज ऋषि के आश्रम में रहने लगा। वहाँ उसने सुदर्शन को विदल्ल नाम के एक पुरुष ने 'क्लीब' कहकर सम्बोधित किया, (क्लीब का अर्थ 'नपुंसक' होता है) मगर सुदर्शन ने केवल 'क्लीं' का ग्रहण किया और बालक सुदर्शन वह बीज का जाप करने लगा। भारद्वाज ऋषि ने उसको शास्त्रज्ञान दिया । 'क्लीं' बीज के प्रताप से लाल वस्त्रों वाली, लालरंग वाली और लाल आभूषणों वाली वैष्णवी शक्ति का दर्शन हुआ और क्लीं बीज के प्रताप से शशिकला नाम की राजकन्या ने उसका वरण किया । अन्य राजाओं ने सुदर्शन को मारने की कोशिश की। मगर देवीने उसका रक्षण किया, देवी ने शत्रुओं का संहार किया।[15]

मकरन्द दवे ने एक अन्य कथा का भी निर्देश किया है। पार्वती मौन रहकर तपश्चर्या कर रही थी उसी समय एक वराह शिशु गड्ढे में गिर पड़ा और वह जल में डूबने लगा। उस गड्ढे में दलदल था। इसलिए पार्वतीने द्रवित होकर शिवजी को प्रार्थना की और शिव स्वयं प्रगट हुए।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पुराणकार भी तान्त्रिक परम्पराओं से परिचित थे और बीज मन्त्रों के प्रभाव को उन्होंने कथाओं के माध्यम से स्पष्ट करने कि कोशिश की है। शास्त्रतन्त्रों का अनुसन्धान जिस तरह वेदों और उपनिषदों के साथ है उसी तरह पुराणों के साथ भी है।

सन्दर्भ

1. *ज्ञानार्णवतन्त्रम्*, सम्पादक- डॉ. सुधाकर मालवीय और रामरञ्जन मालवीय, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, वर्ष-2001 प्रथम-द्वितीय पटल मे 7.7
2. *ज्ञानार्णवतन्त्रम्*, सम्पादक- डॉ. सुधाकर मालवीय और रामरञ्जन मालवीय, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, वर्ष-2001 प्रथम-द्वितीय पटल 2-3 पृ.7
3. *लघुस्तव* सम्पादक - मकरन्द दवे, नवभारत साहित्य मन्दिर, प्रथम आवृत्ति, पृ. 16

4. मकरन्द दवे (लघुस्तव) नवभारत साहित्य मन्दिर 2009, पृ. 29 *केनोपनिषद्* द्वितीय अध्याय।

5. *बृहदारण्यक उपनिषद्*, 1-2-5

6. सम्पादक- डॉ. गौतम पटेल, नीलम पटेल *आदिशङ्कराचार्य विरचित स्तोत्रावलिः* प्रकाशक - स्मिताबेन रमेशभाई भट्ट, मुम्बई, द्वितीय आवृत्ति - 2018 पृष्ठ - 138

7. *लघुस्तव* पृष्ठ-8 .

8. *शिवसूत्र* 1-4 श्यामाकान्त द्विवेदी आनन्द चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 2015. पृ. 119

9. *लघुस्तव*, पृ.8

10. *बृहदारण्यक* - 1-2-6

11. *लघुस्तव*, प्रथम श्लोक, पृ-16

12. *बृहदारण्य उपनिषद्* -1-2-6

13. *श्रीमद्भगवती* भागवत अथवा *देवीभागवत*, सस्ता साहित्यवर्धक कार्यालय, प्रथम आवृत्ति - 1968 द्वितीय सर्ग 11-अध्याय, पू. 171

14. *देवीभागवतपुराण*, तृतीय स्कन्ध, अध्याय-17 पृ. 188

15. *देवीभागवतपुराण*, तृतीय स्कन्ध - अ23

8 राजतिलक बंगलो,
आबादनगर के पास, बोपल,
अहमदाबाद-380058
चलवाणी- 7874532225

देवीपुराणान्तर्गत शिवागमीय योग

योगेश प्रसाद पाण्डेय

पुराण भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। पुराण वेदार्थ तथा आगमार्थ के उपबृंहक है। '*देवीपुराण*'[1] एक प्राचीन तथा प्रमुखतम शाक्त उपपुराणों में से एक है। इस उपपुराण के अध्ययन से हमें देवी के स्वरूप एवं शाक्त पूजा के स्वरूप तथा योगविधान के अनेकानेक विषयों पर बहुत ही मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध होती है। *देवीपुराण* को भारतीय शाक्तधर्म-आगम अर्थात् प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। यह पुराण तन्त्रों को प्रामाणिक मानते हुए भी वेदों का भी समादर करता है। पूजा-पद्धति पर तन्त्रों का प्रभाव इस पुराण में प्राप्त होता है। तान्त्रिक प्रक्रियायें, तान्त्रिक मन्त्र-मुद्राएँ, न्यास तथा योग आदि का उपयोग प्रचुर मात्रा में प्रदर्शित है। मन्त्रविद्या तथा योगविज्ञान का वर्णन प्रतिपादित है। कामिकविद्या, पदमाला और मृत्युञ्जय आदि अनेक विद्याओं का स्वरूप निर्दिष्ट है। इन विद्याओं के प्रयोग से एवं सिद्धि करने से मात्र अणिमादि सिद्धियाँ ही नहीं मिलती अपितु अपवर्ग की भी प्राप्ति हो सकती है। *गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का अभिमत है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यस्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।[2]

इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए *देवी पुराण* में भी सांख्ययोग का वर्णन प्राप्त होता है। शक्र के द्वारा ब्रह्मा से प्रश्न करने पर उत्तर देते हुए कहा कि इस पृथिवी पर अत्यन्त कठिन साधना को नन्दि और पदमालाओं से संयुक्त योग को कैसे नारद जी ने प्राप्त किया?

ब्रह्मा ने बताया कि इस योग के माध्यम से शाश्वत सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। शिवयोग के प्रभाव द्वारा योगीजन अमरत्व के अधिकारी बन चुके हैं। मेरे पुत्र सनकादि मुनिजन तपस्या के द्वारा योग को आश्रय लेकर सम्पूर्ण कल्मषों से रहित हो गये थे। उन्होंने शिवतुल्य नन्दीश का आराधना करके यथोचित योग की प्राप्ति की। नन्दीश का प्रसाद से शिवसिद्धान्तमार्ग द्वारा वेदशास्त्रागम के द्वारा नारदादियों ने प्राप्त किया। इसी क्रम में आगे जाकर शिवयोग के प्रकार से तप (योग) के प्रभाव से योगविद्या प्राप्त की। इसके अनन्तर पुनः शुक्र पूछते हैं—हे देवताओं से पूजित ब्रह्माजी! व्रतहीन होने पर भी जिस योग के द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। उस योग के बारे में तत्त्वपूर्वक सुनना चाहता हूँ।

ब्रह्मा ने सविस्तर कहा कि—कोटिसूर्य के समान तेजसम्पन्न सनत्कुमार को नमस्कार करके यत्न पूर्वक सूक्ष्म तरीके से योग के बारे में जानने के लिये सर्वशास्त्र विशारद ऋषि से पूछा। तब मुनि ने कहा कि—हे नारद! सम्पूर्ण शास्त्रों के सार रूप में अवस्थित योगधर्म के बारे में बताऊँगा। योग का वर्णन करते हुए बताया गया है कि ज्ञान से वैराग्य होता है। वैराग्य से धर्म का संचय तथा धर्म के द्वारा योग होता है जो माहेश्वर का ही गुण है—

ज्ञानाद् भवति वैराग्यं वैराग्याद् धर्मसञ्चयः।
धर्माच्च योगो भवति योगान्माहेश्वराः गुणाः।।[3]

यदि सुख चाहते हो तो धर्म छोड़ों, और यदि धर्म चाहते हो तो सुख का त्याग करो। आगम का ज्ञान करके विरक्त होकर धर्म का पालन करो। सांख्य से जो स्थान प्राप्त होता है, वह स्थान योग से भी पाया जा सकता है। पुष्पों में अवस्थित रस का ग्रहण जैसे—मधुमक्खी करती है, उसी तरह साधक को भी सांख्य में अवस्थित योग का ग्रहण करना चाहिए। सांख्य में इन्द्रियों को वश करके पञ्चतन्मात्राओं में लीन किया जाता है और पञ्च तन्मात्राओं को प्रकृति विकृति रहित पुरुषतत्त्व में सन्निहित किया जाता है। यह सांख्ययोग में वर्णित योग है। इसी योग के बारे में ब्रह्माजी आगे शुक्राचार्यजी को कहते है। देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप योग का पालन करो। यथोपदिष्ट धर्म का पालन किया करो। पहले से प्राप्त धर्म की रक्षा अच्छे से करो। यदि रक्षा नहीं कर सकते हो तो उसका उपार्जन भी अधिक नहीं करनी चाहिए। सभी धर्म को छोड़कर यतिधर्म का पालन करें। यतिधर्म की पालन से परासिद्धि और पालन न करने से नरक की प्राप्ति होती है। शरीर रहते ही योग के द्वारा प्रकार करने से नरक की प्राप्ति होती है। शरीर रहते ही योग के द्वारा सम्पूर्ण क्लेशों का नाश करें। शरीर छटने के बाद तो जीव स्वयं ही भोग करता है।

विशेषों से अविशेष परास्मृति हैं, इन्द्रियों से अहंकार विशिष्ट हैं। अहङ्कार से पराबुद्धि, बुद्धि से महान्, महत् से परम तत्त्व की उपलब्धि है। इसको सबसे श्रेष्ठ माना गया है, सभी कारणों से अभिभूत माना गया है। बीसवाँ तत्त्व के रूप में उस पुरुष को स्वीकार किया गया है। कारणों के भी कारण रूप में विराजित हैं। आठ प्रकार के प्रकृति को स्वीकार किया गया है। उसके विकार सोलह माना गया है—

अष्टौ प्रकृतयो ज्ञेया विकाराश्चैव षोडश।
कार्यञ्च कारणञ्चैव द्वारा द्वारित्वमेव च।।[4]

जो उस परमात्मा के तत्त्वसर्ग, भावसर्ग, भूतसर्ग को जानता है तो उसको विद्वान् की संज्ञा दी गयी है। जो जितेन्द्रिय हैं, सर्वदा हिंसारहित भी है तो योग की जानकारी योगाभ्यास के द्वारा सभी प्रकार के दुःखों का अन्त होगा। ईश्वर को परम पुरुष माना जाता है। उसके साधर्म्य और वैधर्म्य के बारे में भी उपदेश करूँगा। वह नित्य, सर्वगत, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप में अवस्थित है। वह व्यूहरहित, अवयवरहित, सर्वत्र व्याप्त, त्रिगुणरहित, प्रसवादि धर्मरहित हैं। परन्तु प्रधान अस्वतन्त्र, योग्य रूप में अवस्थित है। अस्वतन्त्र, अनित्य

यह जगत् को जानने के लिये अनन्त शक्ति सम्पन्न भगवान् सर्वयोगेश्वर पशुओं के पति, निरपेक्ष, गुणसम्पन्न, माया से रहित रुद्र ही सामर्थ्य हैं। परिवर्तनशील संसार के कारण ईश्वर को अप्रमेय की संज्ञा दी गई है। जब तक शरीर और बुद्धि ठीक से काम करें तब तक वैराग्य सम्पन्न होकर ज्ञानयुक्त योग का पालन करना चाहिये। योग का पालन न हो तो दुःख के भागी बनना होगा, तदर्थ दुःख के विनाशार्थ योगधर्म का पालन आवश्यक है। क्रोधरहित, धर्मचारी, गुरुभक्त, अहिंसक, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, निर्द्वन्द्व आदि गुण द्वारा संयुक्त होना चाहिए—

जितेन्द्रियो जितप्राणो जितनिद्रो जिताशनः।
जितश्रमो जितद्वन्द्वः स्वल्पमात्रपरिग्रहः।।[5]

इत्यादि गुण सम्पन्न होने के लिये योग को अवलम्बन करना ही चाहिए।

ऐसे योगीजन सम्पूर्ण प्राणियों में समभाव रखते हैं। सम्पत्तियों पर मिट्टी और लकड़ी की तरह दृष्टि रखते हैं। ये लोग बारहों महीना सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं। ये लोग अपने योगबल से भिक्षुवृत्ति को धारण करके संसार में विचरण करते रहते हैं[6], उसी को तपमार्ग कहा जाता है। रिक्तस्थानों में, गोष्ठ में, वृक्षमूल में, नदी तीर में, श्मशान में, देवालयों में, पद्मासन में, स्थलों में अर्धचन्द्रासन में बैठकर उत्तम, मध्यम एवं मन्द योगासानों को कुम्भ कहा जाता है। इस विषय को *पातञ्जल योगसूत्र* में बताया है— **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**[7] बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना ही धारणा है अर्थात् चित्त को निश्चल भाव से एक भाग में स्थिर करके रखना। साधक एवं पूरक पूर्वोक्त आचरण करें। प्राणायाम से दोष, धारणाओं से किल्विष, प्रत्याहार से विषय और ध्यान से ईश्वर प्राप्ति के गुण को हासिल कर सकते हैं। गायत्री के जप से योगसिद्धि में सहयोग मिलती है। अतः गायत्री को भक्तिपूर्वक जपना चाहिए। ॐकार पूर्व गायत्री का अधिक से अधिक जप करें। जिससे कालान्तर में शून्य ब्रह्म की अनुभूति होती है। ॐकार को ब्रह्मस्वरूप माना गया है। यमनियमों में रत एवं प्राणवायु धारण करने में दक्ष को ही ॐकार का ज्ञान होगा—

प्राणायामैर्देहदोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनापीश्वरान् गुणान्।।[8]

यम, नियम, क्रियादिओं की पालना सभी दिशाओं में योगाभ्यास से किया जायेगा। इसीलिये विशिष्ट माना जायेगा। इस विषय को पुष्ट करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने आठ प्रकार के योग का वर्णन किया है

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।[9]

ये आठ प्रकार के योग के अङ्ग हैं। अहिंसा, सत्य, चोरी का अभाव ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच चीजों को यम कहा जाता है। मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख न देना अहिंसा है। इन्द्रिय और मन से प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा का वैसा ही

भाव प्रकट करने के लिये और हितकर तथा दूसरे को उद्वेग उत्पन्न न करने वाले जो वचन बोले जाते हैं, उनका नाम सत्य है। इसी तरह अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को भी समझना चाहिए।

अल्पवीर्य से ही योग के माध्यम से सम्पूर्ण भोग किया जा सकता है। सभी मन्त्रों में योगमन्त्र विशिष्ट है। योग सम्पूर्ण अवस्थाओं में ग्राह्य है। जिस प्रयोजन से ध्यान करके कार्य को सफल बनाता है तो उसको योगी कहा जाता है। मन, आत्मा और ध्येय, सूक्ष्म महेश्वर का चिन्तन ध्यानयोग से ही होगा। जब ध्यान प्रणवस्वरूप महेश्वर की ओर हो जाता है तो पवनरहित दीप की स्थिर दीपक की तरह मनुष्य का विषयरहित चित परमेश्वर में स्थित हो जाता है। योगासन में आरूढ़ होकर ॐकार का जप करने से चित का कल्मष नाश हो जाता है, तैलधारा की तरह। योग से जिसका चित्त कल्मष रहित होता है, ऐसे शान्तात्मा मोह से रहित योगी अक्षय को प्राप्त होते हैं—

पवनरहितो यथा प्रदीपः स्थित इव लक्ष्यते निश्चलस्वभावः।
विषयविरहितं तथा हि चित्तं स्थितमिव लक्ष्यतेऽमितप्रवृत्ति।।[10]

ॐकार से चित्त शुद्ध हो जाता है और योग के बल से संसार से विमुक्त हो जाता है—

ॐकाराद् भ्रंश्यते चित्तं क्षिप्तं लिप्तं पुनः पुनः।
शब्दादिभिरसम्पृक्तं भूयस्तस्मिन् नियोजयेत्।।[11]

जो सम्पूर्ण दोषों को योग से जान लेता है तो उसी के बल से अर्थात् शिवप्रसाद से अतुल भोग को भोगता है। जो प्रकाररहित होकर एकाग्रचित्त से सर्वदा योग एवं योगद्वार को देखता है। योगद्वार परं गुहा है, सभी तापों को विनाश करता है, वही पवित्र है। कामभोग से जिसका चित्त व्यग्र है, ऐसे मनुष्य उसको जान भी नहीं सकते, देख भी नहीं सकते। योगीजन युक्तात्मा होकर योगद्वार से ओंकार में आरूढ़ होकर परमगति को प्राप्त होते हैं। उस गति से प्राप्त पद को पाकर पुनः लौटना नहीं पड़ता है। यह सब शङ्कर के प्रसाद से होता है। उस ब्राह्म भाव को मन में धारण करके सिद्धि को प्राप्त करते हैं। जिस भाव से मन को योग में लगाते हैं, उसी भावानुरूप सिद्धि मिलेगी। योग के साथ ओंकार का भी चिन्तन आवश्यक है।

एकमात्रं द्विमात्रं वा त्रिमात्रं कृत्स्नमेव च।
ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं शान्तं शान्तेन मनसोद्वहेत्।।
तैलधारामिवाच्छिन्नां दीर्घघण्टानिनादवत्।
ओङ्कारसन्ततिं कुर्याद् विशुद्धेनान्तरात्मना।।[12]

गुरुवचन में निमग्न, ज्ञान विज्ञान में तृप्त, कलिकलुष से रहित, सर्वधर्मानुरक्त, स्थिरचित, अनुरक्त योगी को विविधगुण सम्पन्न शङ्कर का चिन्तन आवश्यक है। चित्तोत्पत्ति में और उत्पत्ति में जिसके चित्तक्षय नहीं होता है। उस सर्वव्यापी महेश्वर अनादि मध्यपर्यन्त स्थित हैं। जो योग में युक्त रहता है, उसको सुख, दुःख

का, सर्दी-गर्मी का भी अनुभव नहीं रहता है। ओंकार के साथ योग में आरुढ हुआ साधक परम गति को प्राप्त करता है—

योगद्वारेण यतयो युक्ताकामो दृढव्रताः।
ओंकाररथमारुह्य गच्छन्ति परमां गतिम्।।[13]

रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि को नियंत्रण मन से होता है और मन का नियंत्रण योग से होता है। शंख, दुन्दुभि आदि ध्वनियन्त्रों से भी युक्त (योगी) के चित्त को विचलित नहीं कर सकता। योगकर्म में लीन होने पर सम्पूर्ण विघ्न नष्ट होकर भस्म हो जाते हैं और अन्त में सुख के अधिकारी हो जाता है। शास्त्रानुरूप कर्म सम्पादन करने से विघ्न नष्ट हो जाते हैं। प्रतिमा, श्रवण, वेदना, स्पर्श, भ्रम, मोह को उपसर्ग की संज्ञा दी गई है। कलुषित भावना रहित, शिवमय बुद्धि से युक्त, जपरूपी इंधन को हमेशा प्रज्ज्वलित करने वाले, गुरुवचन में निरत, सर्वदा धर्म में उद्यत, योगमार्ग में स्थित जनों की दर्शन भी पुण्यदायक होता है। जैसे लोग प्रकाश के माध्यम से चक्षु से देखते हैं, उसी तरह सूक्ष्मयोग से तत्त्वों का अवलोकन करते हैं। जैसे साफ शीशे में अपनी प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है, उसी तरह विशुद्ध मन में ब्रह्म का दर्शन भी हो जाता है—

यथा चक्षुः प्रकाशेन दृष्टरूपाणि पश्यति।
तद्वत् च सूक्ष्मयोगेन युक्तस्तत्त्वानि पश्यति।।[14]

शुद्ध मन से, स्थिर चित्त से परात्पर सूक्ष्म शिवतत्त्व का दर्शन हो जाता है। योग से सर्वत्र, सर्वज्ञ, सर्वकारण महेश्वर का दर्शन हो जाने से जन्म मोह का बन्धन छूट जाता है। इसको पुष्ट करते हुए कहा है कि–

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।[15]

पुरुष का जो बुद्धि के साथ अज्ञानकृत सम्बन्ध है, उसका और तज्जनित मल-विक्षेप आवरण का अभाव होने से पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार जब दोनों की समभाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है। वह चाहे किसी भी निमित्त से किसी भी प्रकार से क्यों न हो जाय? महर्षि के अनुकम्पा से संक्षेप से योग का विस्तार किया गया है। जिसको प्राप्त करके नारद ने सिद्धि हासिल की। शिव के प्रसाद से यह अमृतयुक्त, सिद्धिप्रद योग का वर्णन सनत्कुमारों ने नारद से किया। यह योग सम्पूर्ण सिद्धि को प्रदान करने वाला है।

सन्दर्भ

1. *देवीपुराण*, सम्पादक- डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार, प्रकाशित, श्रीलालबहादुर शास्त्री संस्कृत, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1976। 2. गीता 5/4/
2. *गीता*, 5/4
3. *देवीपुराण*, 10 अ., प्रथम परिच्छेद, श्लोक 15

4. *देवीपुराण,* अ. 10, प. 2, श्लो. 5।

5. *देवीपुराण,* अ. 10, प. 4, श्लो. 4।

6. *स्थिरसुखमासनम्* 2/46 निश्चल होकर सुखपूर्वक बैठने का नाम ही आसन है

7. *पा. सू.* 3/1

8. *देवीपुराण,* अ. 10, प. 5, श्लो. 8

9. *योगसूत्र,* 2/29।

10. *देवीपुराण,* 10 अ., प. 6/11

11. *देवीपुराण,* 10 अ., प. 6, श्लो. 2

12. *देवीपुराण,* 10 अ., प.7/7-8

13. *देवीपुराण,* 10 अ., प.8/4

14. *देवीपुराण,* 10 अ., दशम परिच्छेद, श्लो. 2

15. *योगसूत्र* 3/55।

शोधच्छात्र,
वैदिकदर्शन विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी-5

नेपालराष्ट्रे शैवागमस्य प्रभावः

लेखनाथपौड्यालः

शैवागमो नेपालराष्ट्रस्य हृदयरूपेण विराजितो वर्तते। यतो हि विश्वाराध्यो भगवान भूतभावनो नेपालराष्ट्रस्य राष्ट्रदेवरूपेण सुप्रतिष्ठितः श्रीपशुपतिनाथो नेपालस्य मध्यमभागस्य राजधान्याः श्रीवाग्मतीभगवत्याः पावने तटे विराजितो वर्तते। नेपालराष्ट्रोऽयं शैवानुयायिभिः राजभिः समनुपालितो वर्तते। यदा गणतन्त्रो नासीत्, तदा राजपरम्परा प्रचलिता आसीत्। सर्वे राजानो भगवतो भूतभावनस्य श्रीपशुपतिनाथस्य भक्ता आसन्। अधुनापि सम्पूर्णेऽपि राष्ट्रे सर्वत्र शिवस्य मन्दिराणि अधिकानि सन्ति । प्रायः मन्येऽहं एकस्मिन् ग्रामे एक शिवमन्दिरं तु अवश्यमेव वर्तत एव । राष्ट्रवासिनः अन्यादपेक्षया शिवस्याराधनं प्रसन्नतया कुर्वन्ति। शिव: वैष्णवेभ्यः, शाक्तेभ्यः, गाणपत्येभ्यश्च रोचते राष्ट्रे नास्त्यत्र शङ्का। राष्ट्रोऽयं देवभूमिर्वतते । मन्दिराणामपि देशो वर्तते। पर्वतानां कोणे-कोणे, हिमालयाना मध्ये-मध्ये, समतलभूतानां गृहे-गृहे, जनपदे, ग्रामे, वीथिकायां च मन्दिराणि विराजमानानि सन्ति । तेषु मन्दिरेषु अशीति प्रतिशतम् आराधनं भगवतो भूतभावनस्य शिवस्य भवति। तत्र शिवस्याराधनं जनाः सरलतया प्रकुर्वन्ति। तत्र द्रव्यस्यापि अधिकं समुपयोगो न भवति। स्वल्पेनैव द्रव्येण शैवाः पूजनं प्रकुर्वन्ति। तत्र पर्याप्तानि वनानि, पर्याप्तानि जलानि, पर्याप्ताः शिलाश्च वर्तन्ते। शिलायां शिवस्याराधनं बिल्वपत्रेण, जलेन, धत्तूरफलेन च कुर्वन्ति। तत्र न केवलं शैवाः, तदतिरिक्ताः भक्ताश्च पूजनं प्रकुर्वन्ति।

तत्र मातरः स्वपतीनां, बालकानां संरक्षणाय एकमासं यावत् स्वस्थानी व्रतकथायाः निष्ठापूर्वकं श्रद्धया पालनं कुर्वन्ति। सम्पूर्णेऽपि राष्ट्रे अस्य व्रतस्य पालनं विवाहिताः मातरः संकुर्वन्ति । प्रायः मातृभ्यः इदं व्रतं संरोचते। श्रावणमासे बालकात् आरभ्य वृद्धं यावत् जना: शिवस्याराधनं विशेषरूपेण प्रकुर्वन्ति। श्रावणमासस्य सोमवासरे नवति प्रतिशतं हिन्दवः शिवाय जलं समर्प्यैव फलाहारादिकं स्वीकुर्वन्ति । केचन तु किमपि न भक्षयन्ति। 'बोलबम' इत्यस्य शब्दस्य समुच्चारणं जनाः प्रेमपूर्वकं कुर्वन्ति। शिवमन्दिराणि भक्तः प्रपूरितानि भवन्ति । तदनन्तरं ये विवाहिताः मातरो भवन्ति, ताः ऋषितर्पणीव्रतस्य पालनं कुर्वन्ति। तस्य विशेषमहत्त्वं वर्तते यत्—श्रीसतीदेवी महादेववत् वरप्राप्तये इदं व्रतं कृतवती आसीत्। व्रतानन्तरं प्राप्तवती महादेवम् । तस्मादेव राष्ट्रवध्व अस्य व्रतस्य पालनं जलपानरहितेन प्रकुर्वन्ति। व्रतमिदं त्रीणि दिनानि भवन्ति। एकस्मिन् दिने नद्यां सरोवरे वा संगत्य विशेषरूपेण गोमयेन, अपराजितया, दूर्वाङ्कुरेण, मृत्तिकया, दुग्धेन, दध्ना च घण्टात्रयं यावत् विशेषस्नानं कुर्वन्ति। अन्ते च सप्तर्षीणां संपूजनं विधाय व्रतस्य समापन भवति। प्राचीनकालीनाः प्रधानमन्त्रिणः शैवानुयायिनश्चासन्। गुरुगोरक्षनाथ- खप्तडबाबास्वर्गद्वारीबाबादयो

महान्तश्चाचार्याः शैवानुयायिनः आसन्। प्राचीनकाले *श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य* कथानुसारं देवदानवयोः मध्ये समुद्रमन्थनं वर्तमानराष्ट्रस्य सोलुखुम्बुजनपदस्थे क्षीरसरोवरे (दुग्धसरोवरे) जातमिति। मन्थनक्रमे यत् हालाहलविष नागमुखाग्निःसृतम्, तस्य पानं देवानां, जगतश्च कल्याणाय भगवता श्रीशङ्करेण कृतम्। पानानन्तरं पीडया कण्ठावरुद्धो जातः।

भगवान् श्रीशङ्करः पीडाशान्त्यर्थं हिमालयात् प्रतीच्यां प्रस्थितवान्। श्रीशङ्करस्य एकस्मिन् हस्ते दण्डः, अपरे च त्रिशूलश्च आस्ताम्। श्रीशङ्करस्य चलनकारणात् भूमिरपि कम्पिता। यत्र यत्र भगवान् शङ्करः समागतः तत्र तत्र ऐतिहासिकतीर्थस्थलानां निर्माणं जातम् । दण्डं भूमौ संस्थापनकारणात् ततो भगवती गङ्गा प्रवाहिता। तस्याः नाम वेत्रावती जाता, यतो हि शङ्करस्य हस्ते वेत्रस्यैव दण्ड आसीत्। पुनरग्रे शङ्करो वर्णितः। वक्षस्थले अतीव पीडा आसीत्। हिमालयस्य सन्निधौ संप्राप्य पीडाकारणात् स्वहस्ते विराजितं त्रिशूलाद् भित्तौ ताडितम्। ताडनकारणात् त्रिशूलस्य मुखात् त्रीणि वृहच्छीत्राणि जातानि। तेभ्यः धाराः प्रवाहिताः। निःसृतजलैः तत्र एकस्य सरोवरस्य निर्माणं जातम्। तत्रैव सरोवरे पीडाशान्तये बहूनि दिनानि अशेत। तस्मात् सरोवरात् एका गङ्गा प्रवाहिता। तस्याः नाम त्रिशूली जाता। अधुनापि सा नदी जनानां पापानां प्रक्षालनं कुर्वन्ती प्रवहन्ती वर्तते। श्रीशङ्करो बहूनि दिनानि तत्रैव पीडाशान्त्यर्थं सुप्तवान् । मासानन्तरं पीडा गता। श्रीशङ्करोऽपि कैलाशं प्रति प्रस्थितः। यत्र सरोवरो निर्मितः, तस्य नाम गोस्वामी (गोसाइकुण्डः-वर्तमाननाम) सरोवरो जातः । यदा मातुः सतीदेव्याः शरीरं शान्तं जातं तदा भगवता श्रीशङ्करेण तद्देहं स्कन्धे संस्थाप्य सम्पूर्णेऽपि नेपाले भ्रमितम्। भ्रमणकाले मातुः कानिचन अङ्गानि नेपालराष्ट्रेऽपि पतितानि। अङ्गपतनकारणात् शक्तिपीठस्य निर्माणं जातम् । यदा बलरामो ब्रह्महत्यया ग्रस्तो जातः। तदा बलरामोऽपि ब्रह्महत्यामोचनाय नेपालस्थानां तीर्थानां भ्रमणं कृत्वा सुनसरीजनपदस्य सप्तकौशिक्याः पावने तटे भगवतः श्रीशङ्करस्य शिवलिङ्गं विनिर्माय आराधनापूर्वकं ब्रह्महत्यया मुक्तो जातः। अधुनापि तल्लिङ्गं **'श्रीबलरामेश्वरः'** इति नाम्ना प्रसिद्धमस्ति। ***'देवदेशो हिमालयः'*** इदं पुराणस्य कथनानुसार नेपालदेशः हिमालयद्वारा सुपरिवेष्ठितो तीर्थरूपेण भगवान् रुद्र एव वर्तते। अस्य देशस्य उपरिभागे हिमालयक्षेत्र वर्तते। तत्रैव सर्वोच्चशिखर- सगरमाथा वर्तते। अस्मिन् हिमालयक्षेत्रे गौरीशङ्करनामको हिमालयोऽपि वर्तते। शैवागमस्य एक भेदो वर्तते। तस्य नाम वीरशैवागमो विद्यते। अस्यापरनाम जंगमोऽपि वर्तते। जंगमसमुदायस्य इष्टदेवस्य प्रमुखस्थानं नेपालदेशस्य काष्ठमण्डपे वर्तते। तस्य नाम श्रीडोलेश्वरमहादेवो वर्तते। विषयेऽस्मिन् *शिवपुराणस्य* कोटिरुद्रसंहितायां लिखितमस्ति यत्—

तद्रूपेण स्थितस्तत्र भक्तवत्सलनामभाक् ।
नयपाले शिरोभागो गतस्तद्रूपतः स्थितः।।[1]

अस्य मन्दिरस्य निर्माणं द्वितीयतृतीयशताब्दौ एव जातमिति अनुमातुं शक्यते। शिवलिङ्गमिदं उत्तराखण्डस्य श्रीकेदारनाथस्य शिरोभागरूपेण विराजमानं वर्तते। महाभारतकाले पाण्डवाः महाभारतस्य युद्धं समाप्य स्वपुत्राय अर्थात् अर्जुनपुत्राय राज्यभारं संन्यस्य स्वर्गारोहणाय उत्तरं प्रति प्रस्थिताः। तत्र यात्राप्रक्रमे ते

श्रीकेदारनाथस्य दर्शनं कर्तुं समुत्सुकाः संजाताः । श्रीकेदारनाथमहादेवः पाण्डवान् दृष्ट्वा वने महिषस्य स्वरूपं धारयित्वा भ्रमणार्थं गतवान् । तस्मिन् काले श्रीकेदारनाथः पाण्डवान् पापिनः इति मतवान्। तत्र श्रीकेदारनाथमहादेवस्य स्वरूपं न दृष्ट्वा सर्वे ते खिन्नाः जाताः। परन्तु तैः ध्यानं दृष्टं यत् महादेवस्तु महिषरूपेण विचरन्नास्ति। अतो वयं तमेव विग्रहं दिदृक्षामः इति सुनिश्चित्य महिषस्य पृच्छं सम्प्राप्ताः। महिषेन पाण्डवान् दृष्ट्वा सशरीरं पृथिव्याः आभ्यन्तरे निमज्जितम्। पाण्डवैरपि महिषस्य पुष्ठं संग्रहीतमासीत्। तस्य महिषस्य भागत्रयं संजातम्। शिरोभागो डोलेश्वरमहादेवरूपेण नेपाले प्रकटितः। अद्यापि तस्याकारः शिरोवत् वर्तते। पुच्छस्तु भीमस्य हस्ते एव समागतः। अन्यानि अङ्गानि तत्रैव श्रीकेदारनाथमहादेवरूपेण विद्यमानानि जातानि।

एतादृशीं दुर्घटनां दृष्ट्वा पाण्डवाः आश्चर्याः जाताः। प्रायश्चित्तस्य कृते ते तत्रैव समुपविश्य भगवदाराधनायां संलग्नाः जाताः। आराधनाकाले एव आकाशवाणी जाता यद् भवद्भिर्जघन्योऽपराधः कृतः। यदि मद्दर्शनं कर्तुमिच्छत चेत् यूयं झटिति नयपालदिव्यभूमिं प्रति गच्छत। तदा वचनं संश्रुत्य पाण्डवाः तत्र नेपालं प्रति प्रस्थिताः। श्रीडोलेश्वरमहादेवं संदृश्य पापान्मुक्ताः जाताः। यावत् महत्त्वं श्रीकेदारनाथस्य वर्तते तावत् श्रीडोलेश्वरभगवतो वर्तते। अस्य देवस्य समीपे एव राष्ट्रदेवपशुपतिनाथस्य भव्यमन्दिरं विद्यते। भगवान् साक्षात् श्रीशङ्करः इदमलौकिक श्लेष्मान्तकं वनं दृष्ट्वा स्वकैलाशपुरीं विहाय स्वगणैः सह मृगरूपं संधार्य अत्र समागतः । श्रीशङ्करेण सह माता श्रीपार्वती अपि आसीत् । उभाभ्यां तत्र अलौकिकी लीला प्रारब्धा। परन्तु कैलाशपुरी शून्या जाता। देवताः श्रीशङ्करस्यान्वेषणाय तत्र समागताः, परन्तु बहु प्रयत्नं कृत्यापि तैः न प्राप्तौ। यदा श्लेष्मान्तकवने प्रविष्टाः देवाः तदा सुन्दरमृगरूपधारिणं श्रीशङ्करं मृगीरूपधारिणीं श्रीपार्वतीं दृष्ट्वा विस्मिताः। नैकैः स्तोत्रैः ते स्तवनं कृतवन्तः । धामगमनाय निवेदनं कृतम्, परन्तु तौ नैच्छेताम्। सर्वे देवाः संमिल्य बलात् नेतुं मृगरूपशङ्करं पार्वतीं गृहीतवन्तः, परन्तु तैः केवलं शृङ्गो गृहीतः। तस्य शृङ्गस्य खण्डचतुष्टयं जातम्। शिव पार्वती लुप्तौ जातौ। किञ्चित्क्षणानन्तरं वाग्मत्याः पारे तटे पञ्चमुखयुक्तस्य श्रीपशुपतिनाथस्य अलौकिकी मूर्तिः प्रादुर्भूता। सर्वे देवता चकिता जाताः। श्रीपार्वती तस्याः एव तटे श्रीवत्सलादेवीरूपेण सुप्रतिष्ठिता जाता। केऽपि गणाः कैलाशं नागच्छन् । सर्वे तत्रैव निवसिताः।

अस्य महत्त्वविषये वर्णन विद्यते यत्—

वाग्मत्याः पश्चिमे तीरे सर्वदेवमयक्षितौ।
ज्योतिरूपे मुने साक्षात् पशुपतिर्विराजते।।
अव्यक्तं परमं लिङ्गं प्रकाशतेऽहर्निशम्।
दीपशिखाकृतिस्तेभ्य दृश्यं योगिभिरेव हि।।[2]

वाग्मतीतीरे भगवान् श्रीपशुपतिनाथो मात्रा पार्वत्या सह विराजितो विद्यते। ज्योतिरूपो वर्तते, अस्य दर्शनं ज्योतिसम्पन्नाः योगिनः एव कर्तुं शक्नुवन्ति । ब्रह्माविष्णू दर्शनार्थं तत्र समागतौ । तौ दिव्यज्योतिलिङ्गस्य माध्यमेन दर्शनं कृतवन्तौ स्तः। कथितं वर्तते यत्—

अदर्शयत् स्वकं लिङ्गं शक्त्या विरहितं परम् ।
प्रमाणं धनुषश्चाष्टौ पञ्चवक्त्राण्यधारयत्।।
पञ्चास्यमक्षमालाञ्च घटापूर्णाऽमृतं तथा।
दधानं दिक्करैर्लिङ्गं सपीठं खलु पश्यताम्।।

एतयोः (ब्रह्मविष्णवयो:) स्तवनं श्रुत्या भगवता श्रीपशुपतिनाथेन उमासहितं पञ्चमुखस्य अष्टकरसंयुक्तस्य कायस्य दर्शनं प्रदर्शितम्। भगवतो भूतभावनस्य हस्तयोः जपमाला अमृतकलशश्चास्ताम्। अस्य लिङ्गस्य नाम आत्मालिङ्गोऽपि विद्यते। अस्य महत्त्वं अन्यदपि विद्यते यत्—

ये पश्यन्ति शिवं साक्षात् पञ्चव्यूहं शुभाननम्।
श्रद्धयाऽश्रद्धया वापि तेषां पुण्यफलं शृणु।।
सर्वजन्मार्जितैः पापैश्चतुर्विधोद्भवाश्च ते।
मुच्यन्ते तत्क्षणान्नूनं ज्ञानाज्ञानकृतैरपि।।
सर्वयशफलं लब्ध्वा सर्वदानोद्भवं तथा।
धर्मोपवासपूजां स शिवयोगे महीयते।।[4]

यदि अज्ञातावस्थायामपि पञ्चमुखयुक्तस्य श्रीपशुपतिनाथस्य भक्तिपूर्वकं दर्शनं करोति चेत् पापान्मुक्तो भवति। सर्वयज्ञस्य, दानस्य, व्रतस्य, उपवासस्य च फलं सम्प्राप्य शिवलोके पूजितो भवति। अस्य समीपे एव श्रीगोकर्णेश्वरमहादेवो विराजितो वर्तते। सहैव तस्य पूर्वस्मिन् भागे श्रीकुशेश्वरमहादेवस्य भव्यमन्दिरं विद्यते। भारतवर्षे द्वादशज्योतिलिङ्गानि सन्ति, परन्तु नेपालदेशे एको जगद्गुरुश्रीबालसन्तमोहनशरणो वर्तते। तेन जगद्गुरुणा द्वादशज्योतिर्लिङ्गानां प्रमाणानि नेपाल एव वर्तते इति प्रकटितानि। तेन न स्वयं प्रमाणानि न निर्मितानि अपि तु सर्वेषां पुराणानामवलोक्यैव समाजे प्रस्तुतिकृतः। किञ्चित्कालानन्तरमपि तस्य प्रचारो भविष्यति। प्राचीनकथनानुसारं एकः प्रसिद्धः साधु आसीत्, तस्य नाम बाबा खप्पडः आसीत् । सहैव अन्यो गुरुः षडानन्दोऽपि खप्पडवत् शैवागमे सिद्ध आसीत्। एतयोः महापुरुषयोः नाम सर्वत्र राष्ट्रे वर्तते। एतौ स्वकीर्त्या सम्पूर्णे राष्ट्रे ख्यातिलब्धौ जातौ। शैवागमे एतौ सिद्धौ आस्ताम् । नेपालराष्ट्रं यदा बहुषु भागेषु विभक्तमासीत्, तदा राजा पृथिवी नेपालराष्ट्रस्य एकत्रीकरणं कृतवान् । राजापृथ्वीनारायणाशाहोऽपि शैवागमस्यानुयायी आसीत्। प्राचीनकालादेव नेपालराष्ट्रे शैवागमस्य प्रचारप्रसारश्च विद्यते। सम्पूर्णेऽपि नेपालेऽधुना अशीति प्रतिशतं जनाः शैवागमस्य अनुयायिनः सन्ति । ये वैष्णवाः, शाक्ताः सन्ति, तेऽपि शैवागमस्यानुयायिनो विद्यन्ते । नेपालराष्ट्रस्य किञ्चिद् भागे कैलाशमानससरोवरो विराजते। तस्य तु महत्त्वमत्यधिकं वर्तते। महाकविकालिदासवत् लब्धख्यातिकविः श्रीभानुभक्त आचार्योऽपि शैवानुयायी आसीत्।

अतः समासेन वक्तुं शक्यते नेपालस्थेषु सर्वेषु पदार्थेषु, जन्तुषु, प्राणिषु, नरेषु वा शैवागमस्य प्रभाव दरीदृश्यते। भागवते एकस्य वंशस्य नाम आगच्छति यत्—किरातवंशः। तस्य वंशस्य अनुयायिनः

किरातेश्वरमहादेवस्य पूजनं कुर्वन्ति। अर्थात् तेऽपि शैवागमस्य समर्थकाः सन्ति। अतः नेपालराष्ट्र शैवागमस्य प्रभावः हिमालयादारभ्य समतलभूमिं यावत् प्राचीनकालादेव वर्तते। येन केनापि व्याजेन नेपालराष्ट्रे जनाः शैवागमस्यानुयायिनो विद्यन्ते। आधुनिककालीनाः युवाः धूमपानस्यादिमाध्यमेनापि 'भोले बम' इत्यस्य नाम्नः समुच्चारणं कुर्वन्तोऽपि शिवनामोच्चारणं कुर्वन्ति । सर्वेषां प्रियः नेपालराष्ट्रे श्रीशङ्करः प्राथम्येन वर्तते। अतः नेपालराष्ट्रस्य हृदयप्रदेशे एव शैवागमः प्रमुखरूपेण विराजमानो विद्यते। नास्त्यत्र शङ्कापङ्ककलङ्केलेशः ।

सन्दर्भ

1. *शिवपुराण*, कोटिरुद्रसंहिता।
2. *स्कन्दपुराण, हिमवत्खण्ड* 69-70 अ. नेपालमाहात्म्य।
3. *स्कन्दपुराण* 73-74 अ.।
4. *स्कन्दपुराण*, *हिमवत्खंड* 77 अ. *नेपालमाहात्म्य*।

शोधच्छात्रः,
धर्मागमविभागः,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

श्रीविद्योपासक पं. श्रीहरिशास्त्री दाधीच एवं वाणीलहरी

डा. स्मिता शर्मा*
प्रो. नीरज शर्मा**

पं. हरि शास्त्रीजी का जन्म जयपुर के दाधीचवंश के नामावल गोत्र में वैशाख कृष्णा चतुर्थी संवत् 1950 अर्थात् सन् 1893 में हुआ था। आपके पिता का नाम पं. दामोदर तथा माता श्रीमती घींसी था। परम्परानुसार आठ वर्ष की आयु में पं. कृष्णचन्द्र जी ने इनका उपनयन संस्कार किया। प्रारम्भ में हरिशास्त्रीजी ने श्री मांगीलाल दाधीच से वैदिक मन्त्रार्थ ज्ञान, *शौनक प्रतिशाख्य*, *वृहद्देवता*, *छन्दशास्त्र*, वेदाङ्गज्योतिष का अध्ययन किया। इन्होने पं. मंगनीराम श्रीमाली से व्याकरण और पं. लक्ष्मीनाथजी द्राविड़ से साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया। शास्त्रीजी ने धन्वन्तरि के अपरावतार वैद्य लक्ष्मीराम जी से आयुर्वेद का अध्ययन किया। व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् पं. चंद्रदत्तजी ओझा से काव्यरचना कर्म की प्रेरणा ग्रहण की। हरिशास्त्रीजी को जयपुर के तत्कालीन सभी प्रकाण्डविद्वानों का आशीर्वाद और स्नेह मिला। महामहोपाध्याय पं. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने हरिशास्त्रीजी को शाक्त सम्प्रदाय की दीक्षा प्रदान की । पं. हरि शास्त्रीजी ने जीविकार्थ जयपुर के दरबार हाईस्कूल और उसके बाद महाराजा संस्कृत कालेज में अध्यापन किया, वहीं से आप सेवानिवृत्त हुए ।

पं. हरिशास्त्री दाधीच शाक्त सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त शक्ति के अनन्य उपासक हो गये। ये भगवती पराम्बा के परम साधक थे। पं. हरिशास्त्रीजी को समय-समय पर अपने प्रखर वैदुष्य एवं ज्ञान-अवदान के कारण अनेक सम्मान एवं उपाधियाँ प्राप्त होती रही। आगमरत्न, आम्नायधुरन्धर, आशुकवि कविभूषण, आयुर्वेदभूषण, काव्यरत्न, वेदान्तभूषण, पुराणप्रभाकर आदि उपाधियाँ और सम्मान आपको प्राप्त हुये।[1]

जयपुर के संस्कृत विद्वानों में सारस्वत अवदान की दृष्टि से भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के बाद पं. हरिशास्त्रीजी का ही नाम आता है । उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं के हिन्दी पद्यानुवाद भी किया। शास्त्रीजी के द्वारा किया गया *दुर्गासप्तशती* का पद्यानुवाद अत्यन्त प्रशस्त तथा उपयोगी है। शास्त्रीजी की रचनाओं में इनका अद्वितीय वैदुष्य परिलक्षित होता है। शास्त्रीजी विनोद प्रिय, निर्भीक वक्ता, लेखक, कवि, वैद्य, प्रवाचक, सिद्ध साधक एवं आचार्य थे। डूंगरपुर वास्तव्य पं. गणेशराम शर्मा के शब्दों में—

'महाभागोऽयं श्रीमद्धरिनारायणशास्त्रीदाधीचमहोदयो निस्सन्देहं भगवत्या देव्या परमाराधको महोपाध्याय: साहित्यशास्त्रनिष्णात: सफल: प्राध्यापको ग्रन्थप्रणेता, सुरभारतीसेवक: सिद्धासन: सम्पादक: सिद्धलेखनी-

को महालेखक: महाकवि कृतिमान् स्वाभिमानी स्वात्मगौरत्ववान् महापण्डित आशुकविश्चासीत् न केवलमयं संस्कृतपण्डित एव केवलममूद्धरं च ज्योतिषादिनानाशास्त्रेष्वपि निपुणं व्युत्पन्नो गम्भीर ज्ञानोदधिरिवासीत्। आगमतन्त्रेषु त्वस्यातितरामनन्यसाधारणी प्रामाणिकी च प्रतिपत्तिरासीत्।"[2]

सरस्वती के परम उपासक आशुकवि शास्त्रीजी ने निष्काम भाव से आजीवन काव्य सर्जना की। साधक शास्त्रीजी ने अपने कर्मानुष्ठान के अनुरूप ही वेद, आयुर्वेद, अलंकार, तंत्रादि नाना विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। शास्त्रीजी ने *वाणीलहरी, सुवर्णलक्ष्मीनक्षत्रमाला, सिद्धिस्तव, साम्राज्यसिद्धिस्तव, श्रीललितासहस्रकाव्यम्,* नामक महार्ह शाक्त ग्रन्थरत्नों का प्रणयन किया जो शक्ति उपासना के क्षेत्र में अमूल्य निधि है।[3] इनके अतिरिक्त श्रीराममानस पूजनम् आदि अनेक अन्य अनेक सिद्धस्तोत्र और गीतियाँ लिखी हैं। *उदरप्रशस्ति* नानक व्यंग्य और *नाथवंशप्रशस्ति* आदि प्रशस्तिकाव्यों के साथ श्री हरिशास्त्री जी ने कथा, निबन्ध और शास्त्रीय साहित्य में भी विशिष्ट योगदान किया है । इनमें *अलङ्कार कौतुकम्, कौलविलास, वर्णबीज प्रकाश, संजीवनी साम्राज्य* आदि उल्लेखनीय शास्त्रीय ग्रन्थ हैं । हिन्दी भाषा में पं. हरिशास्त्रीजी ने दश उपनिषदों का *पद्यानुवाद, दुर्गासप्तशती का पद्यानुवाद* तथा *मानमाधव महाकाव्य* का भी प्रणयन किया। पं. हरिशास्त्री दाधीच ने 20 फरवरी 1970 को इस नश्वर संसार से महाप्रयाण कर पराम्बा सायुज्य प्राप्त किया। आशुकवि पं. हरिशास्त्री दाधीच का कृतित्व राजस्थानीय संस्कृत वाङ्.मय के लिये अन्यतम अवदान हैं।

वाणी लहरी—पण्डित हरिशास्त्रीदाधीच-रचित *वाणीलहरी* वस्तुत: भगवती आद्याशक्ति पराम्बा के 'वाक्' स्वरूप का स्तवन है जिसमें 'या देवी सर्वभूतेषु वाणी रूपेण संस्थिता' रूप शारदा-सरस्वती के दिव्य रूप, गुण, कर्मादि की वन्दना की गयी है। इस लहरी में भगवती के रूप-सौन्दर्य का परम्परानुसार आपादमस्तक नख-शिख वर्णन किया गया है। यह लहरी राजस्थानीय संस्कृत लहरी परम्परा की निधि तथा शाक्त-उपासना का अमूल्य स्तोत्र है। पचास पद्यात्मक वाणीलहरी का प्रकाशन सन् 1918 में हुआ। '*राजस्थानलहरीलीलायितम्*' ग्रन्थ में प्रो. प्रभाकर शास्त्री ने इसे संकलित और संपादित किया है।4 इस स्तोत्र में प्रारम्भ से अन्त तक भगवती आद्याशक्ति के दिव्यरूप, गुण, कर्मादि का स्तवन, आत्मदैन्यपूर्वक शक्ति के कृपाकटाक्ष की प्रार्थना निवेदित है। इस स्तोत्र में शाक्ततन्त्र की उपासना पद्धति के अनुरूप भगवती वाणी के रहस्य वर्णित है।

लहरी के प्रारम्भ में सांख्यशास्त्र की त्रिगुणात्मिका प्रकृति एवं वेदान्तदर्शन की सच्चिदानन्द ब्राह्मी-ब्रह्मकला को नमस्कार किया गया है। अनुष्टुप छन्द में कवि ने वाणी को समस्त चराचर जगत को व्याप्त करने वाली, त्रिगुणात्मिका, दिव्या, सच्चिदानन्दस्वरूपा ब्राह्मी के रूप में प्रणाम किया है—

गुणत्रयमयीं दिव्यां परिव्याप्तचराचराम् ।
सच्चिदानन्दरूपां तां ब्राह्मीं ब्रह्मकलां स्तुमः ॥[5]

भगवती सरस्वती स्वयं शरत्काल के चन्द्रज्योत्सना, स्फटिकमणि, कर्पूर, कुमुद, क्षीरसागर के सुधाफेन के समान शुद्ध निर्मल कान्ति और श्वेतप्रभा स्वरूप वाली और अत्यधिक माधुर्यपूर्ण है अतएव कवि ने भगवती के निर्मल स्वरूप का वर्णन करने के लिये स्वयं की वाणी की निर्मलता के लिए प्रार्थना की है—

शरच्चन्द्रज्योत्स्नास्फटिकमणिकर्पूर-कुमुद-
स्फुरन्मुक्ताक्षीराम्बुधि-हिमसुधाफेन-विशदम् ।
दलद्रम्भाजाति-प्रसवनवनीताऽधिकमृदु-
महः किञ्चिद् वाचां मम विकृतिमाचामस्तुतमाम् ॥[6]

आलंकारिक शैली में कवि ने वह भगवती वीणापाणि सरस्वती के दिव्य गुण-कर्मों का कीर्तन करते हुए वाणी में काव्यामृत रसपात्रता के लिए निवेदन किया है। चंद्रप्रभा कान्ति वाली वह भगवती प्रपन्न भक्तों को सभी ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, उनके समस्त दु:खों को दूर करने वाली है, वाणी की अधिष्ठात्री वह देवी श्री हरिचरित का गान करती हुई कवि की का आलम्बन है—

प्रदात्री भव्यानां दुरितपरिहात्री प्रणमतां
निधात्री वीणाया हरिचरितगात्री सुमधुरम्।
वचोऽधिष्ठात्री सा शशि-विशदगात्री प्रकुरुतां
विधात्री काव्यानाममृतरसपात्रीं मम गिरम् ॥

वाणीलहरी भगवत्पाद आदिशङ्कराचार्यप्रणीत *सौन्दर्यलहरी* के प्रेरित रचना है। कवि ने देवी के दिव्य स्वरूपाधायक द्रव्यस्तोत्र के रूप में सौंदर्यलहरी के समान ही, परम्परानुसार भगवती वाणी का नखशिख वर्णन किया है। उन्होंने भगवती के चरणों से प्रारम्भ कर शिर तक सभी अंगों का दिव्य स्तवन किया है। प्रारम्भ में चार पद्यों में कवि ने श्रीचरणों का वर्णन किया है तदनन्तर जंघा, जानु तथा उरू का वर्णन है। इसी भाँति काञ्ची, कटि, नाभि, नितम्ब, उदर, रोमावली, त्रिवली, हृदय, मुक्तामाला, कुच, स्कन्ध, भुजा, अङ्गुली, करतल, कण्ठ, चिबुक, ओष्ठ, दन्त, मुख, नासिका, कपोल, कटाक्ष, नेत्र, कर्ण, भाल, केशपाश, वीणा तथा भगवती के बीज मन्त्र का कवित्वपूर्ण स्तवन किया गया है।

यह भगवती शक्ति के चरण-कमलों में अनुरक्ति मन्द बुद्धिवाले अज्ञानी मनुष्य को भी देवगुरु बृहस्पति के तुल्य अत्यन्त ज्ञानवान् बनाने की क्षमता रखती है। अपने अरुणनखों की सहायता से समस्त संसार के अन्धकार को नष्ट करते हुए सूर्यदेव का उदित होना भगवती की कृपा से ही हो रहा है। अस्ताचलगामी होने पर, लोक की दृष्टि में सूर्य चाहे ओझल हो जाता है परन्तु भगवती के चरणतल की दीप्ति में वह लालिमा के साथ सदैव विराजमान रहता है—

ससूतश्चण्डांशुः किल तिमिरकाण्डान्विदलयन्
प्रखिन्नो यात्यस्तं पुनरपि समुद्यान्ति निशि ते ।

नृणामन्तर्ध्वान्तं तव तु दलयन्तोऽरुणनखा
विराजन्तेऽम्ब ! त्वच्चरणतलभानोर्धुरि सदा ॥[7]

आपादमस्तक नखशिख सौन्दर्य वर्णन प्रसग में क्रमशः भक्तकवि की दृष्टि चरणों से प्रारम्भ होकर मस्तक की ओर जाती है। भगवती के चरण कमलों से प्रारम्भ कर कदलीगर्भकलिका के समान लावण्य वाले जंघाओं, घुटनों और कटि प्रदेश के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन किया गया है । चन्द्रमा के समान दैदीप्यमान जानुकी शोभा का वर्णन करने केलिए कविको कोई उपमान नहीं मिलता है अतः भगवती के दैदीप्यमान जानु को वह चन्द्रमा की कान्ति से भी अतिशायी मानकर उसका स्तवन करता है। भगवती के उरुयुगल स्तोता के समस्त पाप संतापो का का ध्वंस करने वाले हैं। जानुसे प्रारम्भ होकर क्रमश: पृथुल होते हुए वे करभशुण्ड के समान शाटी के भीतर शोभायमान हैं, उनकी कोमलता और कान्ति दिव्यातिदिव्य है। पराम्बा भगवती वाणी के कटिप्रदेश की शोभा का वर्णन करने में कवि स्वयंको असमर्थ अनुभव करता है, उसकी विमलकान्ति और शोभा भगवती की मेखलाकाञ्ची के क्वणन से स्वयं निनादित होती है। भगवती के कटिप्रदेश में मधुर निनाद करने वाली नवनटी के समान काञ्ची का यह संगीत सर्वोत्कर्षशाली है जो भगवती के गोद में रखे उनकी वीणा के संगीत का अनुसरण करता है[8]—

श्रियां रङ्गस्थाने पटमपि दधाने सुजघने
त्वदीयेयं वीणा क्वणमनुसरन्ती सुमधुरम् ।
क्वणन्ती नृत्यन्ती समधिगमयन्ती सुरवधूः
सहाङ्गैः सङ्गीतं जयति बत काञ्ची नवनटी ॥

भक्तकवि कटितट पर सुमधुर स्वरका विस्तार करती हुई काञ्ची-मणिमेखला की तुलना कलहंसों की पंक्ति से करता है और उससे अपनी बुद्धि की निर्मलता के लिये प्रार्थना करता है । भगवती वीणापाणि के नाभि और नितम्ब का सौन्दर्य भक्तों को समस्त कष्टों से निवृत्ति और अभीष्ट फलों की प्राप्ति कराने वाला वर्णित है। जगज्जननी के उदरप्रदेश की शोभा भी अत्यन्त दिव्य और गुणशालिनी है। भगवती का उदरसमुद्र के साथ समानता रखता है और उससे भिन्नता भी रखता है। समुद्र खारे जल से परिपूर्ण है, अगस्त्य ऋषि के द्वारा उसका पान किया गया, उसमें वाडवाग्नि का भी निवास है तथा उसका मन्थन भी किया गया है। इन सबसे सर्वथा भिन्न देवीका उदर नवीन समुद्र के समान है जो अमृत के लावण्य की शोभा के समान भुवनजन रत्नों को उत्पन्न करनेवाल है ऐसे उदरपयोधि से कवि अपनी रक्षा के लिए निवेदन करता है—

अपीतोऽगस्त्येन ध्रुवमपि जडोघैर्न भरितः
न च क्षारो नो वा ज्वलनपरिलीढो न मथितः ।
सुधालावण्य-श्रीभुवनजनरत्नानि जनयन्
नवीनोऽयं पातु त्वदुदरपयोधिर्जननि ! माम् ॥[9]

भगवती सरस्वती की त्रिवली का स्तवन करते हुए यह भाव प्रकट किया गया है कि यह त्रिवली त्रिगुणात्मिका है और इसी से पृथक्-पृथक् गुणों वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश के गुण उत्पन्न होते हैं। भगवती के सुन्दर कोमल शरीर के मध्य मे पुलकावलि के रूप में सम्पूर्ण वाङ्मय और वर्णावली सुशोभित होती है जिसके दर्शन से अज्ञानी भी ज्ञान का सागर बन जाता है। भगवती के उदरस्थल को स्नेह और करुण रसका आकर कहा गया है । इनकी गुरुता और शोभा करीन्द्रों के गण्डस्थल के गर्व को चूर्ण करनेवाली है। असीम करुण रसके भार से भगवती सरस्वती का कटिमध्य भाग विनत—झुका हुआ है कमलासन पर विराजमान भगवती अपने भक्तों को निरन्तर आनन्द प्रदान करने वाली है। भगवती की चारों भुजाएँ अविद्या रूपी संसाराग्नि में दग्ध लोगों केलिए चारअमृत की सरिताओं केसमान हैं । परमकल्याण कारिणी इन भुजाओं से संसार में सुख का विस्तार होता है। भगवती की ये भुजाएँ कल्पवृक्ष की शाखाओं के समान समाश्रितों को समस्त अभीष्ट फलप्रदान करनेवाली, बुद्धि की जडता को समाप्त करनेवाली तथा शीघ्र ही समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध कराने वाली है।

स्थल कमलिनियों की कान्ति से स्पर्धा करनेवाली भगवती की अंगुलियाँ तीनों लोकों में सुख और शान्ति का विस्तार करें, ऐसी कवि की याचना है। भगवती के करतल खिले हुए रक्तकमल दलकोण की कान्ति को भी लज्जित करनेवाले हैं। अमृत से संसिक्त भगवती के करतलों की शोभा की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है तथापि कविकर्म के लोभ में वर्णन करता हुआ कवि आत्मविनय प्रस्तुत करता है । भगवती के मृदु विशदकण्ठ में सुधा सुषमा का निरन्तर निवास है, हे जगत् जननी इस मधुर अमृतवर्षा से यह संसार कभी भी तृप्त नहीं होता इसकी तृष्णा दुर्निवार है।

जगदम्बा के सुशोभित चिबुक के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि विचित्र भ्रान्ति का अनुभव करता है यह क्या सम्पूर्ण अमृत का सार है अथवा घनसार है यह चन्द्रमा का बिम्ब है अथवा निर्मल कौस्तुभ है अनुपम कानिका नित्य विस्तार करता हुआ जगदम्बा का रूचिर चिबुक मेरे अन्तःकरण में पवित्रता प्रदान करे—

सुधानां सार: किं किमुत घनसारस्य गुलिका
हिमांशोर्बिम्बं किं विमलमथवा कौस्तुभ इति ।
किरन्नित्यं भ्रान्तिं यदनुपमकान्तिं कलयतां
मदन्तःशुद्धिं ते रुचिरचिबुकं तत्प्रकुरुताम् ॥[10]

भगवती के दिव्यहास में प्रकट होनेवाली दन्तपंक्ति को आवृत्त करनेवाले ओष्ठ भक्तों की समस्त चिन्ताओं को नष्ट कर देते हैं। भगवती के ओष्ठ की आभा अपूर्व है और उनके भीतर दाडिम कणों की भांति दन्तपंक्ति सुशोभित होती है। जगदम्बा की स्वच्छन्द हंसी भक्तों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करनेवाली कही गयी है । जगज्जननी के मुखचन्द्र से प्रकट होता निर्मल मुखहास अपनी उदीयमान किरणों से दसों दिशाओं को

प्रकाशित करता है। भगवती का यह मुखचन्द्र न तो चन्द्रमा के समान कलंक वाला है, न ही जड़ है और न ही कभी दिवस मालिन्य को प्राप्त होता है। यह अतुलनीय है।

आशुकवि पं. हरिशास्त्री दाधीच ने भगवती की नासिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए यह भाव प्रकट किया कि भगवतीके श्वासों से निकलने वाली परिमल गन्ध को प्राप्त करने के लिए अपने सौन्दर्य से समस्त कुसुम समुदाय को लज्जित करनेवाले, कमल समूह याचना करते रहते हैं। भगवती की नासा भक्त कवि के समस्त दुरितों का नाश करने वाली कही गयी है ।

जगत् जननी के कपोलों की दिव्य शोभा का स्तवन करते हुए कहा गया है कि यह सुन्दर पुलकावलि वाले कपोल हस्तिशावक के दन्तशकल के समान निर्मल प्रभा-कान्ति वाले हैं, स्वर्ण कुण्डलों से युक्त हीरों की कान्ति से प्रपूजित ये कपोल दुग्ध-फेनके,साथ क्रीड़ा करते हुए और अभिनव नवनीत के समान अत्यन्त मृदुल हैं—

प्रभाजालैर्लोलौ कलभरदनच्छेदविमलौ
पयः खेलत्फेनाभिनवनवनीतातिमृदुलौ ।
वतंसाश्रद्धीराकलितकलनीराजनमितो
कपौलौ कल्याणं तव सपुलकौ मे कलयताम् ॥[11]

इस लहरी काव्य के प्रत्येक पद्य का चतुर्थ चरण भगवती के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग की दिव्य शोभा के वर्णन के अनन्तर दुरितनाश, अभीष्ट सिद्धि कल्याण, मुक्ति, सद्गति, और कृपाकांक्षा के भाव से संवलित है।

भगवतीके कृपापाङ्ग (कटाक्ष) का पं . हरिशास्त्री दाधीच ने अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है देवी के मुखकमल पर सुशोभित यह कटाक्ष वात्सल्य रसके स्निग्ध रससे सदा परिपूर्ण हैं। देवी के कृपाकटाक्ष यमुना नदी के चञ्चल नीलकमल की हृदयग्राही शोभा कोधारण करते हैं, इनकी महिमा का गान करते हुए कवि कहते हैं कि हे विधिसुते। ये दृगन्त जिस मनुष्य पर आधे क्षण के लिए भी गिर जायें तो वह सुधा-स्यन्दिनी वाणी का स्वामी तथा सिद्धनवरस वाला कवि शिरोमणि बनजाता है –

दधानः कालिन्दी-सलिलचलदिन्दीवरकलां
दृगन्तोऽयं येषां निपतति निमेषार्धमुपरि।
जना जायन्ते ते किल विधिसुते ! ते कविशिरो-
मणीभूतालास्यनवरससुधास्यन्दिवचसः॥[12]

जननी के सुन्दर भ्रूयुग मधु-मकरन्द से परिपूर्ण नेत्र-कमलों के साथ नीलकमल की चंचल पंक्ति के समान है यह भ्रूयुग भक्तों की जड़ता का विदारण करती है। भगवती सरस्वती के दिव्य कर्ण निरन्तर हरि के गुणगणों का श्रवण करते हुए भी अपने भक्तों की दीन-ध्वनि को अवधान पूर्वक सुनती है, ये कर्णयुगल

अपनी शोभा से कुमुद की शोभा को अपास्त करने वाले हैं, जिनके द्वारा कवि अपने दैन्य वर्णों को सुनने की याचना करता है। माँ सरस्वती के मीनाकृति वाले मणिमय स्वर्ण कर्णाभूषणों की कान्ति पूर्वदिशा में उदित होते हुए बालारुण की किरणों के समान शोभायमान है ये दोनों कर्णाभूषण भक्त के अज्ञान का ध्वंस करने वाले हैं—

स्वया कान्त्याऽकस्मादपि जननि ! संस्मारयति यद्
दिशः प्राच्या बालारुणकिरणमालारुणरुचः।
परं हैमं मीनाकृति तव नवीनं मणिमय –
मदज्ञानध्वंसं कलयतु वतंसद्वयमिदम् ॥[13]

साधक पं हरिशास्त्री भगवती सरस्वती के विशाल भाल का वर्णन करते हुए निवेदन करते हैं कि जिनके मस्तक पर घुंघराले बालों की अद्भुत छटा सुशोभित है, शिरोरत्न की कान्ति दिव्यछवि को उत्पन्न कर रही है, भालपर कस्तूरी का बिन्दु शरदकालीन चन्द्रमा की कान्ति को लज्जित करने वाला है, माँ का ऐसा विस्तृत भाल मेरे समस्त कष्ट जंजाल को नष्ट करे। आशुकवि भगवती के केशपाश की तुलना काले बादलों की घटा से करते हैं जिनमें कहीं अन्धकार का समूह है तो कहीं चन्द्रमा शोभायमान हो रहा है, कहीं पर तारे दैदीप्यमान हो रहे हैं तो कहीं पर अमृतधारा बरसती है कहीं पर यह सन्ध्या के समान दृश्यमान है तो कहीं यह तडित दीप्ति से सुशोभित है—

क्वचिद् ध्वान्तस्तोमा परिलसितसोमा क्वचिदपि
क्वचिद् दीप्यत्तारा बलदमृतधारा क्वचिदपि।
क्वचित् सन्ध्याकारा क्व च तडिदुदारा विजयते
त्वदीयेयं चित्रा चिकुरचयनीलाम्बुदघटा ॥[14]

भगवती के नीलकेशपाश घनघटा की छटा बड़ी विचित्र है। वीणा पर चलती हुयी अँगुलियाँ इस किसलय प्रान्त की शोभा को प्राप्त कर रही हैं । भगवती के दर्शन से परब्रह्म स्वयं पवित्र होते हैं और सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त होते हैं ।

भगवती के द्रव्य, गुण, कर्म की स्तुति के उपरान्त उनके अभिजनों का स्तवन किया गया है। नख-शिख वर्णन के अनन्तर भगवती के हाथ में सुशोभित स्फटिक मणिमाला के दर्शन का भी हृदयग्राही स्तवन है। हस्तकमल में धारण को हुयी अनामिका और अँगूठे से आवर्तन की जाती हुयी स्फटिक मणिमाला उदित होते हुए बालारुण की शोभा को प्राप्त हो रही है, यह शोभा हृदय में जड़ता के अन्धकार की दीवार को तोड़ने वाली हैं।

पं हरिशास्त्री दाधीच श्रीविद्या साधना के परमसाधक पं. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी से दीक्षित थे । शास्त्री जी स्वयं भी तन्त्रसाधना में उच्चकोटि की अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। जिसप्रकार *सौन्दर्यलहरी* में भगवान शङ्कराचार्य ने बीजमन्त्रों को प्रतिष्ठित किया है उसी प्रकार पं. हरिशास्त्री ने वाणीलहरी में वाक्देवता के बीज मन्त्र 'ऐं'

को गुम्फित किया है । यह बीजमन्त्र 'अएम्' इन तीनवर्णों के सम्मेलन से बनता है। अ और एकार युगल में वृद्धि करके, उसके सिर पर अर्धेन्दु अनुस्वार रखने से वाक्बीज का प्राकट्य होता है। इसका जप करने वाले संसार में निश्चय ही वचनसिद्ध होकर कविशिरोमणि बन जाते हैं। राजा भी उनके चरणों में मस्तक झुकाते हैं—

अ ए कारद्वन्द्वे प्रगतवति वृद्ध्यैकतनुतां
शिरोन्यस्तार्धेन्दु प्रकटमिति वाग्बीजमनिशम् ।
जपन्ति द्राक् तेऽद्धा भुवि वचनसिद्धाः कविशिखा-
मणीभूता राज्ञामपि निदधते मौलिषु पदम् ॥[15]

शुचि-सौन्दर्यवान् हंसों की, मुक्ताहार की शोभा का वर्णन करने के उपरान्त इस लहरीस्तोत्र के अन्तिम पद्यों में भक्तिरस की पराकाष्ठा और कातर आत्मदैन्य प्रस्फुटित होता है । माधुर्य गुम्फित ललित-अभिव्यञ्जना से युक्त पदावली में कवि प्रार्थना करता है कि हे वागीश्वरी भगवती! तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त उदारता और करुणा से परिपूर्ण और कल्याणकारी है यह समस्त वेदज्ञान राशि का सार और विद्याओं का परम आधार है जो कोई मनुष्य अमृतवर्षिणी तुम्हारी इस मधुर मूर्ति का स्मरण करता है वह वाणी से परिपूर्ण विश्व का सृजन कर सकता है—

दयापारावारामविरतमुदारां शिवकरीं
परां विद्याऽऽधारां श्रुतिनिचयसारां सुरुचिराम् ।
सुधास्यन्दस्फूर्तिं तव मधुरमूर्तिं स्मरति यो
मनुष्यो वाग्विश्वं भगवति ! स विष्वक् कलयते ॥[16]

स्तोत्र के अन्तिम पद्य में कवि भावविभोर होकर भावान्विति की चरम सीमा में प्रवेश करता है प्रार्थना पद्य में कातर भाव से वात्सल्यमयी वागीश्वरी को निरन्तर नाना सम्बोधनों से पुकारते हुए कहता है—

मातर्व्याप्तचराचरे ! भगवति ! ब्राह्मि ! त्रिगुण्ये ! जगत्-
सृष्टि-स्थाननिरोधनैकनिपुणे ! लावण्यवारांनिधे !
चिद्रूपे ! वचसामधीश्वरि ! परे विद्ये ! विधातुः सुते
भक्त्या त्वां स्तुवतो हरेरपि मृदुं वर्णालिमाकर्णय ॥[17]

लहरीके अन्तिम पद्य में फलश्रुति वर्णित है कवि का अभिप्राय है कि जो कोई व्यक्ति हरिरचित इस वाणी लहरी का पाठ करेगा वह मनोवांछित फल को प्राप्त करते हुए परम वैदुष्य को प्राप्त करेगा—

य इमां कवि हरिरचितां वाणीलहरीं जनाः पठिष्यन्ति।
सम्प्राप्तवाञ्छितफला विद्वांसस्ते भविष्यति॥[18]

वाणीलहरी भगवती सरस्वती की स्तुति में निबद्ध भक्तिरस से परिपूर्ण श्रेष्ठस्तोत्र काव्य है। भाव, भाषा,, ध्वन्यात्मकता और कवित्व-वैदुष्यका भी इसमें मञ्जुल सन्निवेश है। विविध अलंकार अनायास भगवती के सौन्दर्य तथा लहरी की चारुता को समृद्ध करने वाले हैं। भक्तिरस की तीव्रतर अनुभूति इस लहरी की अनन्य विशिष्टता है। यह कविता महाकवित्व अथवा व्युत्पत्ति को अतिक्रान्त करके साधक-भक्त के हृदय का अपनी आराध्या से ऐकान्तिक आत्मनिवेदन और आह्लादकारी सम्वाद है।

सन्दर्भ

1. *पं. हरिशास्त्री दाधीच, व्यक्तित्व एवं कृतित्व*, डा. प्रेमशंकर शर्मा (शोध प्रबंध)
2. *भारती* 22/4 पृ. -12
3. *राजस्थानीय संस्कृत स्तोत्र साहित्य*, डॉ. नीरज शर्मा
4. *राजस्थान लहरी लीलायितम्*, प्रो. प्रभाकर शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी, 1996, जयपुर।
5. *वाणीलहरी* 1; *राजस्थान लहरी लीलायितम्*, प्रो. प्रभाकर शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी, 1996, जयपुर।
6. *वाणीलहरी* 2; वही
7. *वाणीलहरी* 6; वही
8. *वाणीलहरी* 12; वही
9. *वाणीलहरी* 16; वही
10. *वाणीलहरी* 29; वही
11. *वाणीलहरी* 34; वही
12. *वाणीलहरी* 36; वही
13. *वाणीलहरी* 40; वही
14. *वाणीलहरी* 42; वही
15. वाणीलहरी 46; वही
16. *वाणीलहरी* 48; वही
17. *वाणीलहरी* 50; वही
18. *वाणीलहरी* 51; वही

*संस्कृत विभाग,
श्रीकल्लाजी वैदिक विश्वविद्यालय
निम्बाहेड़ा (चित्तौड़गढ़)
**संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

समकालीन दार्शनिक चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा

प्रो. सुशिम दुबे

संक्षेप-सार - प्रस्तुत आलेख में स्वामी विवेकानन्द, सर्वपल्ली राधाकृष्णनन्, गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर, मोहनदास करमचन्द गाँधी एवं श्री अरविन्द के विशेष सन्दर्भ में मोक्ष की अवधारणा का विचार एवं विश्लेषण किया गया है। समकालीन दार्शनिकों ने मोक्ष की अपनी व्याख्याओं में समाज सापेक्ष, तथा वर्तमान समय में आवश्यकतानुरूप नए तथ्यों का भी समावेश किया है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने संसार त्याग की निवृत्तिपरक व्याख्याओं के आलोचन में कर्मसंन्यास के बजाए कर्मफलसंन्यास पर बल दिया हैं। उनके अनुसार अपने अज्ञान एवं सीमाओं से आबद्ध रहना, परिसीमित रहना ही दुःखों का कारण एवं बंधन का स्वरूप हैं। अतः इन सीमाओं का ज्ञान एवं अपने स्वरूप को समझकर उसके अनुरूप बरतना मोक्षावस्था का भावात्मक पहलु है। इस रूप में मोक्ष बन्धन-नाश के साथ-साथ व्यक्तित्त्व एवं चेतना के आयामों में स्वतन्त्रता एवं सर्जनात्मकता के उदय का भी प्रतीक हैं।

समकालीन विचारकों के विशिष्ट विवेचन हैं. उन्होंने मोक्ष के धनात्मक पक्ष असीम स्वतन्त्रता, सृजनात्मकता एवं आनन्दमयता को विशेष महत्व दिया है।

मोक्ष शब्द 'मुच्' धातु से निष्पन्न है, जिससे आशय है, 'छूटना', छूटकारा पाना। 'मुच्यते सर्वदुःखैर्बन्धनैर्यत्र सः मोक्षः' से भी जिसको पाकर सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाये, उसे मोक्ष कहते हैं। भारतीय परम्परा में मोक्ष को सामान्यतः ऐसी स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सभी दुःखों, बंधनों, कर्मों, पापों, फलों तथा कामनाओं से रहित हैं। इसे भाव रूप से अखंड-आनंद की अवस्था भी कहा गया है। मोक्ष को अपवर्ग भी कहा गया है- 'अपकृष्टाः वर्गा धर्मार्थकामा यस्मात् सः अपवर्गाः' जिसके सामने तीनों पुरुषार्थ निम्न कोटि के प्रतीत होते हैं, उसको अपवर्ग कहते हैं। इस दृष्टि से मोक्ष को परम पुरुषार्थ भी कहा गया है।

मोक्ष को निःश्रेयस भी कहा गया है। 'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्'- अर्थात् जीव का जो फल निश्चित है, जो कभीनष्ट नहीं होता।

समकालीन चिंतकों द्वारा वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा सर्वमुक्ति की अवधारणा का प्रतिपादन विशिष्ट रहा हैं। अधिकांश समकालीन चिंतक इस पक्ष को विशेष महत्व देते प्रतीत होते हैं कि वस्तुतः सभी व्यक्ति इस

सत्य स्वरूप ब्रह्म की यथार्थ अभिव्यक्ति हैं, सभी में ब्रह्म का अनिवार्य तत्त्व एवं 'सत्य' 'शिव' एवं 'शुभ' विद्यमान हैं। तो सभी के लिए अपने मूल स्वरूप की प्राप्ति या 'मुक्ति' भी अनिवार्य तथा सहज हैं। विवेकानंद, राधाकृष्णन् आदि विचारक वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा सभी के लिए मुक्ति के आदर्श को प्रतिपादित करते हैं। श्री अरविंद मानवमात्र के पूर्ण आंतरिक परिवर्तन के द्वारा असीमित क्षमता एवं संभावनाओं से युक्त 'दिव्य जीवन' की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रकृति पर्यन्त अवतरण की मान्यता को प्रतिपादित करते हैं। गांधी प्रभृति विचारक 'सत्य' के राज्य या 'रामराज्य' के रूप में सत्यानुसंधानी समाज की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

विवेकानन्दके अनुसार मोक्ष या मुक्ति

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक युग में वेदान्तीय विचारधारा के पोषक माने जाते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में भारत के आध्यात्मिक प्रकाश को फैलाया तथा वैश्विक एकता की विचार धारा का प्रतिपादन किया। वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय उनके अनुसार - ''.....विश्व का एकत्व, विश्व बन्धुत्व नहीं वरन् में भी वैसा हूँ, जैसा कि एक मनुष्य है, एक जानवर है। सब परिस्थितियों में एक ही देह, एक ही मन और एक ही आत्मा है।''[1] अतः वेदान्त दर्शन का सार है, सत् केवल एक ही है। प्रत्येक आत्मा-पूर्णतया वही सत् है, उस सत् का अंश नहीं है। यह सत् एवं आत्म एक ही हैं। विवेकानन्द इसके साथ यह भी कहते हैं ''जड़ पदार्थ, मन और आत्मा में सचमुच कोई अन्तर नहीं है वे उस 'एक' की अनुभूति के स्तर मात्र हैं।''[2] इस परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण विश्व उस अनिवार्य सत्ता की अभिव्यक्ति है। जगत् की विविध नामरूपता वस्तुतः माया है जो अन्तिम विश्लेषण में उसमें निहित एक सत्य पर ही ठहरती है इस दृष्टि से यह जगत् मायोपाधिक कहा जा सकता है।

इस प्रकार अपने अस्तित्व एवं विश्व के मूल तत्त्व के विषय का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान हैं। संसार के भोग में पड़कर हम अपने मूल स्वरूप को नहीं देख पाते। विवेकानन्द इस सन्दर्भ में संसारिक सुख तथा दुःख दोनों की आलोचना करते हैं, ''सुख और दुःख दोनों ही जंजीरें हैं, एक स्वर्णिम दूसरी लौह, किन्तु दोनों ही बाँधने के लिये एक समान दृढ़ हैं और अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार करने से हमें रोकती हैं।''[3]

विवेकानन्द ने अपनी वेदान्तीय विचारधारा में जहाँ मूलभूत 'सत्' की प्राप्ति को परम आदर्श निरूपित किया है वहीं उसके लिये उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा के ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग सभी को मोक्ष प्राप्ति के लिये सक्षम बताया। उनके अनुसार ये सभी आत्म व परमात्मा की एकता या योग को प्रतिपादित करते हैं। वे योग का आशय भी इसी के अनुरूप देते हैं, ''योग का अर्थ है मनुष्य और ईश्वर को जोड़ने की पद्धति...।''[4] और इस पद्धति के रूप में ''हमारा प्रत्येक योग किसी दूसरे योग की सहायता से मनुष्य को पूर्ण बना देने में समर्थ है क्योंकि उन सबका लक्ष्य एक ही हैं। कर्म-योग, ज्ञान-योग, भक्ति-योग सभी मोक्ष लाभ को लिये सीधे और स्वतन्त्र उपाय हो सकते हैं.....यद्यपि ऊपर से ये योग एक दूसरे से भिन्न-भिन्न

प्रतीत होते हैं अन्त में वे मानवीय पूर्णता के एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।''[5] विवेकानन्द यहाँ विभिन्न मार्गों को स्वीकृति प्रदान करते हैं क्योंकि संसार में भिन्न-भिन्न वृत्तियों के अनुकूल ही ये योग विभिन्न व्यक्तियों के लिये श्रेष्ठ मार्ग या उपयुक्त मार्ग होते हैं।

ज्ञान योग के अनुसार विवेकानन्द आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये कहते हैं, ''आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है पर जिसका केन्द्र किसी शरीर में है मृत्यु केन्द्र का स्थानान्तरण मात्र है। परमात्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं पर जिसका केन्द्र सर्वत्र हैं।''[6]

विवेकानन्द के अनुसार हमारा वास्तविक स्वरूप शुभ है, मुक्त है, विशुद्ध सत् है, जो न तो कभी अशुद्ध हो सकता है और न अशुद्ध किया जा सकता है।[7] इसी वास्तविक सत् स्वरूप की अनुभूति ही ज्ञान योग का चरम लक्ष्य है और इस ज्ञान के बिना मोक्ष लाभ नहीं हो सकता।

इस प्रकार ज्ञान मार्ग के अनुसरण के लिये विवेकानन्द कहते हैं, ''पहले ध्यान निषेधात्मक प्रकार का होना चाहिये। हर वस्तु को विचारों को निकाल बाहर करो.....तदुपरान्त आग्रहपूर्वक उसका स्थानापन्न करो, जो हम वस्तुतः हैं सत्, चित, आनन्द और प्रेम''[8], अन्ततः आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान योग को पूर्णतः प्रदान कर देता हैं।

विवेकानन्द के अनुसार भक्ति योग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग हैं। ''भक्ति योग वस्तुतः उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें दर्शाता है कि हम प्रेम को ठीक रास्ते पर कैसे लगायें.....अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था कैसे प्राप्त करें''[9] भक्ति वस्तुतः आराध्य के प्रति अनन्य प्रेम, शरणागति एवं पूर्ण समर्पण का नाम है। इन्हीं भावनाओं को सघन बनाकर परमात्मा से ऐक्य को प्राप्त कर लेना ही भक्ति योग का लक्ष्य हैं। विवेकानन्द कहते हैं ''भक्ति हृदय को ईश्वर रूपी प्रेम सागर के दैवी सलिल से भर देती है''[10] और परमात्मा के प्रेम में भक्त अपने लिये कोई इच्छा नहीं करता बल्कि पूर्ण समर्पण भाव से वह आराध्य के प्रति समर्पित रहता हैं।

''शरणागति और प्रपत्ति की इस अवस्था से भक्त की सब प्रकार की आसक्ति समूल नष्ट हो जाती हैं। प्रेमात्मिका भक्ति समस्त बन्धों को छिन्न कर देती है।''[11] इस प्रकार आराध्य की तैलधारावदवछिन्न अनुभूति भक्त एवं भगवान को एक कर देती है।

कर्मयोग, कर्म के रहस्य का ज्ञान है विवेकानन्द के अनुसार कर्म का रहस्य यह है कि ''निरन्तर कर्म करो, परन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो,''[12] कर्मयोग का सर्वोच्च आदर्श है- निरन्तर और सम्पूर्ण आत्म त्याग, जिसमें किसी प्रकार का मैं नहीं, केवल 'तू' ही 'तू' हैं। विवेकानन्द कहते हैं, ''हमारे जाने या बिना जाने कर्मयोग हमें इसी लक्ष्य की ओर ले जाता है''[13] इस प्रकार क्षुद्र अहं भाव का त्याग तथा समस्त कर्मों को अनासक्ति रहित भाव से परमात्मा में अर्पण करना ही कर्मयोग के अनुसार बन्धन से छूटना है।

वस्तुतः कर्मयोग संसार के त्याग की शिक्षा न देकर संसार में रहकर ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। कर्मयोगी का आदर्श, विवेकानन्द दीपक की उपमा से देते हैं। जिस प्रकार दीपक सतत जलकर समाप्त होता जा रहा है और यही उसका जीवन हैं[14] उसी प्रकार निःस्वार्थ कर्म द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग हैं[15] विवेकानन्द के दर्शन की यह विशेषता रही है कि उन्होंने सभी मार्गों को वस्तुतः विशिष्ट विज्ञान माना है। इसी के अनुरूप राजयोग के सम्बन्ध में वे कहते हैं, यह विज्ञान मन के विश्लेषण तथा अतीन्द्रिय जगत् के तथ्यों का संकलन करता हैं।[16] इसके साथ ही इसमें मानसिक एवं शारीरिक नियन्त्रण एवं अनुशासन का विशेष महत्व है। विवेकानन्द यहाँ पर पतंजलि योग के अनुरूप राजयोग के अन्तर्गत अष्टांग मार्गों को इस योग की प्राप्ति हेतु प्रस्तावित करते हैं।[17]

गाँधीजी के अनुसार मोक्ष या मुक्ति

गाँधी जी अपने आपको सत्य का साधक मानते रहे हैं। उनका दर्शन, विचार एवं समग्र जीवन सत्य की साधना एवं प्रयोगों के प्रति ही समर्पित रहा कहा जा सकता है। गाँधी जी ने सत्य को ईश्वर स्वरूप कहा हैं। इस सम्बन्ध में वे इतने दृढ़ हैं कि स्पष्ट कहते हैं, ''यदि कोई मुझसे पूछे ब्रह्म कहाँ है, कैसा है, तो मैं उसके प्रश्न को बदलकर पूछूँगा कि सत्य कहीं हैं? कैसा है? सत्य ही ब्रह्म है।''[18]

गाँधी जी सनातन हिन्दू विचारधारा एवं मान्यताओं के प्रति गहरी श्रद्धा रखते थे। इसी के अनुरूप वे सत्य को निर्गुण रूप से ब्रह्म एवं सभी में निहित अनिवार्य सत्य के रूप में भी देखते हैं उनके अनुसार इसे जानना वस्तुतः जीवन का लक्ष्य भी है—

"The purpose of life is undoubtedly to know one self, we can not do it unless we learn to identify ourselves with all that lives. The sum totality of that life is God."[19]

इस प्रकार सभी में निहित अनिवार्य सत्य का दर्शन ही जीवन का परम उद्देश्य हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये गांधी जी राजनैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अहिंसा को ही साधन के रूप में प्रस्तावित करते हैं,

"Truth is the goal. But we have no mean of realizing Truth in human relationship except through the practice of Ahimsa."[20]

परन्तु गाँधी जी के अनुसार यद्यपि सत्य के अनुशीलन का साधन अहिंसा है तथापि ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि आपस में अनुस्यूत हैं। इसके साथ ही गाँधी जी सत्यार्थी के आचरण में शुचिता, पवित्रता, सत्य निष्ठता पर भी विशेष बल देते हैं क्योंकि-

"Impure means result in an impure end. One can not reach truth by untruthfulness. Truthful conduct alone can reach truth."[21]

गाँधी जी की ईश्वर के सगुण स्वरूप पर गहरी आस्था थी तथा जीवन में सत्य प्राप्ति के लिये ईश्वर को उन्होंने अपना पथ प्रदर्शक माना है, उनका कथन हैं,

"I am a man of faith. My reliance is solely on God. One step is enough for me, the next step he will make clear to me when the time for it comes."[22]

परन्तु गाँधी जी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है और इस ईश्वर की अनिवार्य अभिव्यक्ति सभी जीवों में निहित है। यदि जीव चाहे तो उस ईश्वर के स्वर को अपने अन्दर सुन सकेगा। गाँधी जी इसके लिये कुछ प्रारम्भिक एवं निश्चित अर्हताओं को आवश्यक मानते हैं।[23]

गाँधी जी के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञानप्राप्ति जीवन साधना का विषय है तथापि आध्यत्मिक ज्ञानप्राप्ति, ज्ञान न होकर हृदय का विषय है।[24] इसकी प्राप्ति रूप में मोक्ष को गाँधी जी ने एक प्रकार से अनन्त सत्ता की प्राप्ति हेतु अनन्त सागर में छलांग के समान भी बताया है। व्यावहारिक रूप में उन्होंने दीन-हीनों की सेवा, प्रेम स्नेह तथा करूणा के रूप में सत्याग्रही होने का आदर्श ही प्रस्तुत किया हैं। वे इस सम्बन्ध में कहते हैं—

".....to see the universal and all pervading spirit of truth face, one must be able to love the meaniest of creation as oneself."[25]

गाँधी जी का सत्यानुशीलन के लिये भजन एवं प्रार्थना पर भी विशेष आग्रह था तथा उन्होंने इसे ईश्वर प्राप्ति का एक साधन भी माना है उनके अनुसार प्रार्थना से व्यक्ति सत्य एवं ईश्वर से सहज ही निकटता प्राप्त करता हैं।[26]

गाँधी जी का दर्शन साध्य-साधन तथा सर्वोदय का विचार समाहित रखता है इसके लिये उन्होंने संन्यासी एवं जगत् त्यागी के जीवन के रूप में मुमुक्षा के आदर्श को स्वीकार नहीं किया है उन्होंने दीन-हीन, देश, राष्ट्र एवं मानव सेवा को ही अपने लिये आदर्श मार्ग निरूपित किया है जो मोक्ष की ओर उन्मुख होता हैं। उनका कथन है-

".....for me the road to salvation lies through incessant toil in the service of my country and there through humanity. I want to identify myself with thing that lives."[27]

रवीन्द्रनाथ टैगोर के चिन्तन में मोक्ष

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में आध्यात्मिकता तथा काव्यात्मक सौन्दर्य, दोनों का अद्भुत संयोग देखा जा सकता है। इसी के अनुरूप वे कहते हैं—

"Reality is the expression of personality, like a poem, like a work or art."[28]

गुरुदेव टैगोर अपने दर्शन को कवि का दर्शन भी कहते हैं, परन्तु उनके लेखन में मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं में उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि निहित देखी जा सकती है। उनके अनुसार मानव का स्वरूप द्विविध है जो कि असीम तथा ससीम दोनों का संयोग है तथा उसका अपनी इस सीमितता से असीम स्वरूप को पाने का प्रयास ही अमरत्व है। गुरुदेव के अनुसार-

"It is the personality of man conscious of its inexhaustible abundance, it has the paradox in it that it is more than it self. It is more than as it is seen……..known or used. And this consciousness of the Infinite ever strives to make its expression immortal and to make the whole world its own."[29]

अतः मनुष्य की शाश्वत आन्तरिक सर्जनाशक्ति ही उसे असीमित बनाती है। यही उसका आत्म को पाने का प्रयास है, टैगोर इसी शक्ति की अभिव्यक्ति को धर्म या मानव का वास्तविक धर्म भी कहते हैं (*Religion of man*)। टैगोर के अनुसार इस धर्म का लक्ष्य वैयक्तिक आत्म तथा परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति है। यह अनुभूति सार्वभौम प्रेम एवं आनन्द की अनुभूति हैं। अतः टैगोर के चिन्तन में 'परमात्म' कोई अमूर्तभाव या नियम नहीं है। यह 'स्व' से ऊपर उठने की प्रक्रिया हैं।[30]

टैगोर पारम्परिक चिन्तन के अनुरूप आत्म-परमात्म ऐक्य (अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप) को ही चरम लक्ष्य मानते हैं। वे इस लक्ष्य की शून्यता या सभी गुणों से रहित अवस्था के रूप में आलोचन भी करते हैं। *The Religion of Man* में एक स्थल पर वे कहते हैं कि व्यक्तिगत आत्म का परमात्म में ऐक्य जो सभी विशिष्टताओं या गुणों से रहित है या ऐसी स्थिति जहां पर मन पूर्णतः रिक्त हो, सभी क्रियाओं से रहित हो जाता है या कुछ लोग इसे कहते हैं कि यह विषय रहित-सुख तथा चेतना की शुद्धावस्था है या इसे योग का अन्तिम लक्ष्य बताते हुए अनन्त और जीव का मिलन/ऐक्य कहा गया है। परन्तु टैगोर इसकी सत्यता असत्यता के विवाद में पड़े बिना कहते हैं कि यह मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में मूल्यवान् हो सकता है तथापि उनके अनुसार-

"Man is more perfect as a man than where he vanishes in an original indefinitness"[31]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि टैगोर मुक्ति या मोक्ष के उक्त सर्वनिषेध स्वरूप के पक्षधर नहीं प्रतीत होते। उन्होंने इसकी संकल्पना, अस्तित्व की गहन अनुभूति, ऐक्य के अनुभव तथा मानव में निहित स्वत्व के प्रेम में की है। उनका कथन है,

"Love is freedom, it gives us that fullness of existence….Love lights up this world with its meaning and makes life feel that it has enough everywhere"[32]

टैगोर के अनुसार प्रेम या आनन्द में व्यक्ति ऐसी व्यापक श्रेष्ठतम चेतना के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा जहाँ पर वह सभी वेदों, सभी प्रकार के द्वैत से उपर उठकर व्यापक प्रेम की अनुभूति में सभी की अनिवार्य एकता का अनुभव कर सकेगा।[33]

टैगोर ने अपने चिन्तन में संन्यास जीवन के रूप में जगत् त्याग की भी अनुशंसा नहीं की हैं। जीवन के सत्य को प्रेम में, सौन्दर्य में देखने का प्रयास किया है। यही उनकी पारम्परिक चिन्तन से विशिष्टता भी हैं।

श्रीअरविन्द और *दिव्य जीवन*

श्री अरविन्द अपने दर्शन में मानव अस्तित्व का पूर्ण विकास 'अतिमानस' तथा 'दिव्य जीवन' के रूप में देखते हैं। श्री अरविन्द परम सत्ता के स्तरों की बात करते हैं- जो शुद्धसत् (Pure Existence) चित् शक्ति (Consciousness Force)आनन्द (Bliss), अतिमानस (Super Mind), मनस (Mind), चैतसिक मन (Psyche), प्राण (Life),जड़तत्त्व (Matter)हैं। उपमा के रूप में कहें तो अंतिम चार को निम्नतर गोलार्द्ध के अन्तर्गत लिया जा सकता है तथा प्रथम चार को उच्चतर गोलार्द्ध के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वस्तुतः ये अलग तत्त्व नहीं हैं क्योंकि मूल तत्त्व सच्चिदानन्द स्वरूप है और यह शुद्ध रूप से चित् शक्ति तथा आनन्द के खेलों में अतिमानस की क्रियात्मकता के माध्यम से ब्रह्माण्ड में अवतरित होता हैं। श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि की निम्नतम या स्थूलतम अभिव्यक्त स्वरूप जड़तत्त्व (Matter)भी उसी तत्त्व का स्वरूप है जो विकास के माध्यम से अपने शुद्ध स्वरूप तक प्राप्त हो सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार यह विकास जड़ तत्त्व से प्राण, चैतसिक मन तथा मनस के उच्चतर स्तरों से आगे की ओर होता हैं।

वस्तुतः यह विकास प्रक्रिया है जो श्री अरविन्द के अनुसार जड़ तत्त्व, प्राण तत्त्व (Mind) से होती हुयी मनस (Psyche) के स्तर तक पहुँच गयी है तथा इसका आगे विकास अतिमानस के स्तर में होना हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानस उच्चतर क्षेत्र में पूर्ण अद्वैत सच्चिदानन्द की अखण्ड चेतना है,[34] जब अपने को सृष्टि में अभिव्यक्त करती है तभी इसके विभिन्न रूप एवं स्थितियों होती हैं जिसे हम मनस के स्तर पर देखते हैं।

श्री अरविन्द वस्तुतः मनस से अतिमानस तक विकास सम्भव मानते हैं। वे विकास को चार स्थितियों "Higher mind", "Illumined mind", "Intuition"तथा "Overmind"के द्वारा सम्भव बतलाते हैं। अतिमानसिक चेतना में सच्चिदानन्द की अखण्ड चेतना के साथ सृष्टि या सत्ता के अन्य स्तरों की समझ या चेतना भी समाहित है। अतः अतिमानसिक परिवर्तन से श्रीअरविन्द हमारे सामान्य लौकिक जीवन के ढंगों तथा दृष्टि में आमूल परिवर्तन को संभव बतलाते हैं। उनके अनुसार इस आमूल परिवर्तन के फलस्वरूप आत्म, मानसिक स्तर का मानव नहीं रह जाएगा, बल्कि अतिमानसिक सत्य या आत्म बन जायेगा। वह उस स्थिति में अज्ञान का क्षेत्र (जो श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि को सीमित समझने का क्षेत्र हैं) में नहीं परिसीमित रहेगा। इस स्थिति में वह ज्ञान पुरुष (Gnostic Being) बन जायेगा। श्री अरविन्द ज्ञानपुरुष के सम्बन्ध में कहते हैं-

"A completes self-knowledge in all thing and at all moments is the gift of superamental gnosis… with a complete self-mastery, not merely in the sense of control of nature, but in the sense of power of perfect self-expression in nature"**35**

श्री अरविन्द मानव के मूलभूत तथा समग्र रूपान्तरण में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य केवल मुक्ति या व्यक्तिगत सिद्धि की प्राप्ति नहीं है बल्कि विश्वगत पूर्णत्व की प्राप्ति हैं। इसके लिये श्री अरविन्द ने पूर्णयोग(Integral Yoga)की बात कही है। इस योग की यह विशेषता है कि यह व्यक्ति मात्र की मुक्ति का ही साधन नहीं है बल्कि यह मानव मात्र या प्रकृति मात्र के रूपान्तरण में भी सहायक हैं। उनका विश्वास है कि जीवन का प्रत्येक अंश सच्चिदानन्द का ही है, इसलिये प्रत्येक अंश को पूर्णता प्राप्त करनी है। जब तक शरीर, प्राण, मन तथा मनस सभी का दिव्यीकरण या उन्हें अतिमानस स्तर की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक हमारा लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन में मानव के चरम लक्ष्य प्राप्ति में अतिमानस की अवधारणा केन्द्रीय है। जहाँ यह जड़, प्राण, मन तथा मनस का उच्चतर विकास है वहीं यह परमतत्त्व सच्चिदानन्द की सतत चेतना या परमतत्त्व का सतत ज्ञान भी है। इस प्रकार अतिमानसिक रूपान्तरण केवल वैयक्तिक रूपान्तरण नहीं होगा बल्कि इस में विश्व चेतना, विश्व क्रियायें आदि भी रूपान्तरित हो जायेंगी। यही श्री अरविन्द के पूर्ण अद्वैत योग (Integral Yoga)का चरम लक्ष्य है। जीवन जगत् का ईश्वरत्व में रूपान्तरण, ज्ञान पुरुष के रूप में दिव्य जीवन (Divine Life) का अवतरण और इस प्रकार से वैयक्तिक मोक्ष न होकर सर्वमुक्ति है।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् एवं सर्वमुक्ति

राधाकृष्णन् के अनुसार विश्व के मूल तत्त्व की समुचित एवं अन्तिम धारणा उसके एकत्व या अद्वैत स्वरूप से ही हो सकती है। अतः निरपेक्ष सत्य आन्तरिक-भेद या स्वगत-भेद से रहित है। इसमें जो

अनेकरूपता दिखायी देती है उसका कारण हमारे द्वारा सृष्टि को ओर से या सृष्टि के सापेक्षत्व से उसे देखना है। यह जगत् वस्तुतः ब्रह्म या परमतत्त्व की अभिव्यक्ति की अनन्त संभावनाओं में से एक हैं। डॉ. राधाकृष्णन् सृष्टि के सापेक्षत्व से ब्रह्म के सगुण रूप में ईश्वर की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ''यद्यपि पूर्ण ब्रह्म विशुद्ध चेतना, विशुद्ध आनन्द और असीम सम्भावना है तथापि एक विशिष्ट सम्भावना की दृष्टि से, जिसने कि वास्तविक रूप धारण किया है, ईश्वर प्रतीत होता है।''**36** अतः यह सृष्टि ब्रह्म की यथार्थ या सत्य अभिव्यक्ति हैं। वस्तुतः पूर्ण ब्रह्म की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अति प्रवाही हो और सम्भावनाओं को साकार करें। ईश्वर और ब्रह्म में राधाकृष्णन् अन्तर करते हैं। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड से संश्लिष्ट भाव से जुड़ा हुआ है, जबकि ब्रह्म उसमें निहित मूल स्वरूप हैं। शुद्ध निर्विकार सत्ता का स्वरूप ब्रह्माण्ड प्रक्रिया से क्षीण नहीं होता, ब्रह्माण्ड प्रक्रिया उसके स्वरूप का प्रकारान्तर है जिसके द्वारा पूर्ण सत्ता अपने आप को अभिव्यक्त करती है। सृष्टि के इस स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि वस्तुतः यही एक संभावना क्यों? इसके लिए राधाकृष्णन् का उत्तर है कि रंगमंच में दर्शक मंडली में बैठकर हम कैसे जान सकते हैं कि परदे के पीछे (नेपथ्य) में क्या हो रहा है। यह माया है और हमें आदर और श्रद्धा के साथ इसे स्वीकार करना हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार मुक्ति या मोक्षावस्था में एक विश्व आत्मा की सत्ता व्यक्ति में प्रवेश करती है और व्यक्ति उसके साथ तादाम्य अनुभव कर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। जीवन के उच्चतर क्षणों में हमें ऐसे अनुभव की कभी-कभी अप्रत्याशित रूप से झाँकी मिलती है। अतः इस प्रकार के अनुभव के फलितार्थ के सम्बन्ध में हमारा कितना ही विवाद हो, हम उसकी वास्तविकता से इंकार नहीं कर सकते।

डॉ. राधाकृष्णन् मुक्ति को अतिजीविता से भिन्न बताते हैं। उनके अनुसार संसार में मोक्ष, सावधिक जीवन से नित्य जीवन की प्राप्ति स्वरूप है। इसको वह सभी व्यक्तियों के लिये अनिवार्य तथा संभाव्य मानते हैं। उनका कथन है, सभी व्यक्तियों को एक दिन अनन्त जीवन (मुक्ति) प्राप्त करना हैं।

मुक्ति के लिये डॉ. राधाकृष्णन् वैयक्तिक प्रयास को एक आवश्यक बताते हैं अतः ''यदि हम अपने भीतर ऐक्य और सहस्वरता स्थापित कर लें, शरीर और आत्मा के संघर्ष पर विजय पा लें तो हम मुक्ति की एक आवश्यकता को पूरा करते हैं। किन्तु परिवेश के साथ हमारी ऐक्य और सहस्वरता तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक उसमें अन्य आत्माएं विद्यमान हैं।''**37**

अतः डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार व्यक्ति तब तक सही अर्थों में मुक्त नहीं हो सकता जब तक उसमें निहित प्रकृति एवं स्वभावगत तत्त्व और अन्य व्यक्तियों की प्रतिस्पर्धाएं एवं उनके स्वरूप में निहित एकता और आध्यात्मिक बन्धुता एक न हो जाएं। इसलिये अपूर्ण संसार में पूर्णमुक्ति संभव नहीं हैं। जिन्होंने विश्वव्यापी परमात्मा की झाँकी पा ली है, वे तब तक संसार में कार्य करते रहते हैं जब तक संसार में असत्य, अशिव एवं असुन्दर का पूर्णतः अन्त नहीं हो जाता।

डॉ. राधाकृष्णन् वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा सर्वमुक्ति को प्रस्तावित करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि यह नहीं हो सकता कि कुछ व्यक्ति हमेशा बन्धन में पड़े रहें और कभी मुक्त न हों। इस प्रकार जब तक कुछ आत्माएं मुक्त हैं तब तक शेष मुक्त आत्माओं के पास यह कार्य रहेगा कि वह उनके लिये प्रयास एवं प्रेरणा का प्रतिमान रखें और इस कार्य तक मुक्त आत्माओं की वैयक्तिकता भी बनी रहेगी। किन्तु जब सारा विश्व मुक्त हो जाएगा अर्थात् सभी व्यक्ति मुक्त हो जाएंगे, तब कोई कार्य करना शेष नहीं रहेगा। इस रूप में ईश्वर की एक संभावना की काल प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी।[38] इस प्रकार अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने पर संसार की अपूर्णता समाप्त हो जायेगी और तब संसार पूर्ण ब्रह्म स्वरूप होगा ईश्वर जो इस ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से संयुक्त रहता है वह इस अवस्था के आ जाने पर ब्रह्म की पृष्ठ भूमि में चला जायेगा।[39]

राधाकृष्णन् के अनुसार मुक्ति की उस अवस्था को हम तार्किक एवं बौद्धिक भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते तो भी यह स्पष्ट है कि यह पूर्ण सन्तोष एवं तृप्ति की अवस्था कही जा सकती हैं।

उपसंहार

समकालीन दार्शनिकों ने मोक्ष की अपनी व्याख्याओं में समाज सापेक्ष, तथा वर्तमान समय में आवश्यकतानुरूप नए तथ्यों का भी समावेश किया है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने संसार त्याग की निवृत्तिपरक व्याख्याओं के आलोचन में कर्मसंन्यास के बजाए कर्मफलसंन्यास पर बल दिया हैं। बाल गंगाधर तिलक प्रभृति विचारकों ने गीता के अर्थनिरूपण में कर्ममार्ग को ही श्रेष्ठ बतलाया है। विवेकानन्द प्रभृति विचारकों ने मुक्ति प्राप्ति हेतु ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग सभी मार्गों को सक्षम-सम्भव मार्ग निरूपित किया हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन चिन्तकों ने जगत् में रहकर ही आत्मोत्थान के प्रयास को विशेष सराहा। गाँधी, विवेकानन्द, विनोबा आदि चिन्तकों ने सामाजिक कार्य एवं पीड़ित मानवता की सेवा को अत्यधिक महत्व दिया है। वे मोक्ष के मार्ग में व्यापक प्रेम के प्रत्यय को आवश्यक मानते हैं। टैगोर व गाँधी आदि विचारकों ने समन्वयात्मक रूप में मानवता एवं प्राणिमात्र से प्रेम को ही मोक्षानुभूति के तुल्य बताया हैं।

'मोक्ष' का प्राचीन परम्परा में सामान्य अर्थ दुःख निवृत्ति माना जा सकता है, परन्तु अधिकांश समकालीन चिन्तक से प्रायः मोक्षावस्था का निषेधात्मक पहलू मानते हैं। उनके अनुसार अपने अज्ञान एवं सीमाओं से आबद्ध रहना, परिसीमित रहना ही दुःखों का कारण एवं बन्धन का स्वरूप हैं। अतः इन सीमाओं का ज्ञान एवं अपने स्वरूप को समझकर उसके अनुरूप बरतना मोक्षावस्था का भावात्मक पहलु है। इस रूप में मोक्ष बन्धन-नाश के साथ-साथ व्यक्तित्त्व एवं चेतना के आयामों में स्वतन्त्रता एवं सर्जनात्मकता के उदय का भी प्रतीक हैं।

सन्दर्भ

1. '*क्या वेदान्त भावी युग का धर्म होगा*', *विवेकानन्द साहित्य*, जन्मशती संस्करण, नवम खण्ड, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1962 पृ. 83
2. 'ज्ञानयोग', *विवेकानन्द साहित्य*, ज.सं., षष्ठ खण्ड, पृ. 243
3. 'ज्ञानयोगपरप्रवचन', *विवेकानन्द साहित्य*,ज.सं., षष्ठ खण्ड, पृ. 276-277
4. 'ज्ञानयोगकापरिचय', *विवेकानन्द साहित्य*,ज.सं. षष्ठ खण्ड, पृ. 248
5. 'अनासक्ति ही पूर्ण आत्मत्याग हैं', *वि.सा.* ज.सं., तृतीय खण्ड, पृ. 67
6. 'ज्ञानयोग (1) 'वि.सा. ज.सं.,षष्ठखण्ड, पृ. 242
7. 'वेदान्तदर्शन (2)', *वि.सा.* ज.सं., नवम्खण्ड, पृ. 74
8. 'ज्ञानयोग (2)', वि.सा.ज.सं.,षष्ठ खण्ड, पृ. 247
9. 'भक्त का वैराग्य - प्रेमजन्य', *वि.सा.* ज.सं., चतुर्थ खण्ड, पृ. 48
10. वही,पृ. 50
11. 'विश्व प्रेम और उसके आत्मसमर्पण का उदय, *वि.सा.* ज.सं.,' चतुर्थ खण्ड, पृ. 75
12. 'मुक्ति', *वि.सा.* ज.सं.,तृतीय खण्ड, पृ. 73
13. 'अनासक्ति', *वि.सा.* ज.सं.,तृतीय खण्ड, पृ. 59
14. कर्मयोगी का आदर्श *वि.सा.* ज.सं.,तृतीय खण्ड, पृ. 85
15. 'मुक्ति', *वि.सा.* ज.सं., तृतीय खण्ड, पृ. 82
16. 'राजयोग पर छःपाठ' *वि.सा.* ज.सं.,चतुर्थ खण्ड, पृ. 79
17. विवेकानन्द ने पतंजलियोगसूत्र पर भाष्य लिखा है तथा यहीं पर इस योग को 'राजयोग' की संज्ञा दी है। इस योग की यम, नियम, आसन आदि आष्टांगों का वर्णन प्रस्तुत अध्याय के प्रथम भाग में संकलित हैं।
18. *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय*, खण्ड-22, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1967 पृ. 287
19. "Diary of Mahadev Desai", p. 184, Q.f. U.S. Mohan Rao (Compiled & Edited), The *Message of Mahatma Gandhi*, Publication division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India 2nd Oct. 1968, p.4 vkxs ls Rao
20. *Harijan*, 23-6-1946; Rao, p. 9
21. *Harijan*, 13-6-1947, Rao, p. 26
22. ".....and everyone who wills, can hear the voice. It is within every one. But like everything it requires previous and definite prepation."- *Harijan*, 20-10-1940, Rao, p. 29
23. *Harijan*, 8-7-1933, Rao, p.31
24. "Spirituality is not a matter of knowing scriptures and engaging in philosophical discussions. It is matter of heart culture of unmeasurable strength."- *Young India*, 1-10-1921, Rao, p. 113-114
25. An Autobiography or The story of My experiments with *Truth*, p. 370-71, Rao, p. 25

26. "Let everyone try and find, that as a result of daily prayer, he adds some thing new to his life, something which can nothing be compared."- *Young India*, 24-9-1931, Rao, p. 45
27. *Young India*, 3-4-1924, Rao, p. 25
28. Rabindranath Tagore, *Personality*, George Allen and Unwin London, 1954, p. 69
29. *Personality*, p. 38
30. "Our greatest delight when we realize ourselves in others and this is the definition of love. This love gives us the testimony of the great whole, which is the complete and final truth of man."- The Man of My Heart', *Religion of Man*, p. 117
31. R.N. Tagore, *Religion of Man*, p. 49
32. *The Religion of Man*, p. 179
33. "Human imperfection is the cause of our sorrow, but there is a fulfillment in love within the range of our limitation which accepts all suffering and yet rises above them."- *The Religion of Man,* p. 203
34. "……supermind is the vast self-extension of Brahman that contains and develops."- *The Life Divine*, p. 120
35. *The Life Divine*, p. 864
36. राधाकृष्णन्, *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*,पृ. 363
37. *वही,* पृ. 323
38. राधाकृष्णन्, *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, पृ. 360
39. *वही,* 360

दर्शन विभाग, नव नालन्दा महाबिहार
(मानित विश्वविद्यालय)
भिक्षु जगदीश काश्यप मार्ग,
नालन्दा-803111 (बिहार)
फोन : 9818420102

मोक्ष प्राप्ति के नैतिक आदर्शों की उपदेशिका – *हंसगीता*

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

महाभारत की *हंसगीता* हमारी चिन्तन परम्परा का महत्वपूर्ण रत्न है जो जीने की कला को सिखाती है तथा अन्त में मोक्ष प्राप्ति को भी सुनिश्चित करती है। महाभारत के प्रख्यात शोध अध्येता-टीकाकार नीलकण्ठ, पं. बालगंगाधर तिलक, पं. जानकीनाथ शर्मा, डॉ. आर. नीलकण्ठ, पं. श्रीरामशर्मा, डॉ. प्रज्ञा ठाकुर जोशी. डा. सुखराम भट्टाचार्य तथा मैं (डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा) आदि ने एकमत से '*हंसगीता*' को गीता के रूप में प्रमाणित किया है। वैसे महाभारत में 94 गीताओं की सूची मैंने राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग से प्रकाशित ग्रन्थ *महाभारतीय गीता महोदधि* 2018 ई. में दी है। *हंसगीता* को महाभारत के सभी शोध अध्येताओ ने स्वीकार कर इसकी एकमत से प्रशंसा की है। अतः इस ग्रन्थ का गहन समीक्षण इस शोध पत्र में प्रस्तुत है। वैदिक नीतिशास्त्र के अनुसार जीवन को उठाने वाले, देवता बनाने वाले सद्गुणों की स्थापना स्वयं ब्रह्मा जी के द्वारा इसमें की गई है। जो दुर्गुण मनुष्य को पतित करने वाले हैं उनका निषेध इस गीता में युक्तिपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है। दूसरे प्राणियों से इसका व्यवहार शत्रुवद् न होकर मित्रवद् होना चाहिए जिससे वह अजातशत्रु बन सके तथा निरंतर सत्साहित्य के अध्ययन से अंदर ज्ञान ज्योति जले, दुःख, शोक आदि अज्ञानोत्पन्न कठिनाइयों का निराकरण हो। यह संदेश इस गीता से प्रतिपादित होता है।

यह गीता *महाभारत* के शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व के अध्याय 299 में 45 श्लोकों के रूप में उपलब्ध है। युधिष्ठिर भीष्म पितामह से जिज्ञासा करते हैं कि सत्य, दम, क्षमा और प्रज्ञा- इन सद्गुणों की विद्वान् लोग क्यों प्रशंसा करते हैं? तब भीष्म हंस एवं साध्यों के संवाद को बताते हैं। एक समय सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने हंस रूप धारण कर तीनों लोक में विचरण किया तब साध्य गणों के पास पहुंचे तब साध्य गणों ने नैतिक गुणों के स्वरूप के विषय में प्रश्न उठाये जिनका उत्तर हंसरूप द्वारा दिया गया है। संसार में श्रेष्ठ सदगुण क्या है? तो उत्तर है- तप, इन्द्रिय, संयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह । हर्ष एवं विषाद से रहित होकर किसी को कायिक, वाचिक एवं मानसिक पीड़ा न पहुंचाएँ। कटु वचन एवं क्रोध से दूर रहे। क्रोध को रोककर प्रसन्न रहना बड़ी समझदारी है। दूसरों के दोष न देखना, उसे क्षमा करना चाहिये क्योंकि क्षमा, सत्य, सरलता एवं दया उत्तम गुण है। वेदाध्ययन का सार सत्य भाषण है तथा सत्य भाषण का सार इन्द्रिय संयम तथा इन्द्रिय संयम का फल मोक्ष है। यही सम्पूर्ण शास्त्रों का उपदेश है। जो वाणी, मन, क्रोध, तृष्णा, पेट तथा जननेन्द्रिय के वेग को रोक लेता है उसकी को 'ब्रह्मवेत्ता मुनि' कहा गया है। क्रोध से अक्रोधी, असहिष्णु से सहिष्णु, प्राणियों से मनुष्य तथा अज्ञानी से ज्ञानी श्रेष्ठ है। इस गीता में क्रोध के त्याग तथा क्षमाशीलता की बड़ी सराहना की गई है। जो दूसरे से गाली मिलने पर बदले में गाली नहीं देते हैं, उस क्षमाशील व्यक्ति की क्षमाशीलता

गाली देने वाले को भस्म कर देती है। जो कठोर वचन सुनकर भी कोई अप्रिय बात नहीं कहता और जो किसी से आहत होकर भी धैर्य रखता है, मारने वाले को न मारना, न उसकी हानि की इच्छा करता है ऐसी उस महान् आत्मा से भेंट करने की देवगण भी इच्छा करते हैं। विद्वान् को चाहिए कि वह अपमान पाकर अमृत पीने की भांति संतुष्ट हो क्योंकि अपमानित पुरुष सुख से सोता है किन्तु अपमान करने वाले का नाश हो जाता है। ज्ञानी ही सुखी है, वह किसी से भी कलह नहीं रखता है, किसी की निन्दा नहीं करता है, वेदशास्त्रों का स्वाध्याय उसे देवत्व की प्राप्ति करा देता है। अज्ञान, ईर्ष्या, लोभ एवं आसक्ति ही उसके कल्याण की प्रधान बाधाएँ हैं। अतः दुर्गुणों का परित्याग कर सदगुणों से अन्वित होना चाहिए जिससे सहज मुक्ति प्राप्त हो सके। जिस प्रकार जहाज से समुद्र पार होता है वैसे सत्य स्वर्ग पहुंचाने का सोपान है। जो स्वभाव से सत्यवादी है. देवता उसके निकट आते हैं व्यर्थ बोलने से मौन रहना उत्तम है. सत्य बोलना दूसरी विशेषता है. प्रिय बोलना तृतीय विशेषता है तथा चौथी विशेषता है धर्मसम्मत बात कहना। ऐसे कल्याणकारी उपदेशों से यह छोटी सी गीता भरी पड़ी है। यह उत्तम एवं उदात्त आचरणीय गुणों की महत्ता स्पष्ट करती है।

महाराज युधिष्ठिर पितामह भीष्म से जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहते हैं- पितामह! संसार में विद्वानों द्वारा सत्य, इन्द्रिय निग्रह, क्षमा तथा प्रज्ञा की प्रशंसा की जाती है। इस विषय में आपका क्या अभिमत है?

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव।। – *हंसगीता-1*

भीष्म पितामह ने उत्तर देते हुए कहा- युधिष्ठिर! इस सम्बन्ध में साध्यदेवों का हंस के साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास समीचीन और प्रासंगिक है—

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर।। – *हंसगीता-2*

एक समय की बात है, लोक पितामह ब्रह्माजी स्वर्णिम हंस का रूप धारण करके तीनों लोकों में विचर रहे थे। घूमते-घूमते वे साध्यगणों के पास पहुंच गए—

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्वजो नित्यः प्रजापतिः।
स वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ।। *हंसगीता-3*

साध्यदेवताओं ने हंस-रूपधारी ब्रह्माजी से कहा- पक्षिराज! यह बात सर्वत्र विदित है कि आप मोक्षतत्त्व के ज्ञाता है—

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन्।
किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन् ।। — *हंसगीता-5*

अतः हम आपसे यह कतिपय प्रश्न करना चाहते हैं। आपके मत में सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है? आपकी दृष्टि में सर्वोत्तम कार्य क्या है तथा जीव के समस्त बन्धनों से छुटकारे का उपाय क्या है?

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि यत् कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम् ।
यत् कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धैर्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम् ।। *हंसगीता-6*

हंस ने कहा- हे देवताओं! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रिय-संयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य ही सर्वोत्तम हैं। खुले हृदय से प्रिय और अप्रिय परिस्थितियों में हर्ष एवं शोक न करें। किसी के मन को आघात न पहुंचाएँ तथा दूसरो से निष्ठुर वचन न बोलें—

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान् प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत।। *हंसगीता-7*

वेदों के अध्ययन का सार है सत्य भाषण। सत्य भाषण का सार है इन्द्रिय संयम। इन्द्रिय-संयम का फल है मोक्ष- यही सभी शास्त्रों का उपदेश है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्षः एतत् सर्वानुशासनम्।। – *हंसगीता, 1.13*

जो वाणी का वेग, मन और क्रोध का वेग, तृष्णा का वेग तथा पेट और जननेन्द्रिय का वेग सह लेता है, उसी को मैं ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण और मुनि मानता हूँ—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् योविषहेदुदीर्णास्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च।।– *हंसगीता-14*

जिस व्यक्ति की वाणी और मन अच्छी तरह से सदा परमात्मा में लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग इन सबके फल को प्राप्त कर लेता है। क्रोध करना सबसे बड़ा पाप है और सहनशीलता का भाव पुण्य

यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात्।। *हंसगीता-24*

वाणी की चार विशेषताएँ बताते हुए पक्षिराज हंस कहते हैं- व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहना, सत्य बोलना. प्रिय बोलना तथा धर्मसम्मत बोलना-ये वाणी की चार विशेषताएँ हैं—

अव्याहतं व्याहताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद् व्याहतं तद् द्वितीयम् ।
वदेद् व्याहतं तत् तृतीयं प्रियं धर्मं वदेद् व्याहतं तच्चतुर्थम् ।। *–हंसगीता 38*

साध्यगणों ने इसके पश्चात् हंसरूपधारी ब्रह्मा से ये चार प्रश्न किए- इस संसार को कितने आवृत्त कर रखा है? किस कारण से उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता? मनुष्य किस कारण से मित्रों का त्याग कर देता है तथा किस दोष के कारण वह स्वर्ग में नहीं जा पाता?

साध्या ऊचुः—

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्ग न गच्छति।। *हंसगीता-**39***

हंस ने उत्तर दिया- अज्ञान ने इस संसार को आवृत्त कर रखा है। परस्पर ईया के कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। लोभ के कारण मनुष्य मित्रों का त्याग करता है तथा आसक्ति दोष के कारण वह स्वर्ग में नही जा पाता—

हंस उवाच—

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्ग न गच्छति।। *हंसगीता-**40***

साध्यगणों ने फिर पूछा- हंसदेव! ब्राह्मणों में कौन एकमात्र सुख का अनुभव करता है? कौन-सा मनुष्य बहुतों के साथ रहकर भी मौन रहता है? कौन-सा मनुष्य दुर्बल होने पर भी बलवान् है तथा इनमे कौन किसी के साथ कलह नहीं करता?

साध्या ऊचुः—

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति।। – *हंसगीता-**41***

हंस ने उत्तर दिया-देवताओं! ब्राह्मणों में एकमात्र ज्ञानी ही सुख का अनुभव करता है। ज्ञानी ही बहुतों के साथ रहकर भी मौन रहता है। एकमात्र ज्ञानी ही दुर्बल होने पर बलवान् है तथा ज्ञानी ही किसी के साथ कलह नहीं करता—

हंस उवाच—

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते।।
प्राज्ञ एको बलवान्दुर्बलोऽपि प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ।। *हंसगीता-**42***

साध्यगणों ने पुनः पूछा- ब्राह्मणों का देवत्व उनका वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय है। उत्तम व्रतों का पालन उनकी साधुता है। दूसरों की निन्दा करना ही उनकी असाधुता है। मृत्यु को प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता है (*हंसगीता,* 44)।

भीष्म पितामह महाराज युधिष्ठिर को बताते हैं- युधिष्ठिर उस पुण्यमय तत्त्वज्ञान का उपदेश करके देवाधिदेव ब्रह्माजी साध्य देवताओं के साथ स्वर्गलोक को चले गए।

यह बहुत छोटी रचना है, पर इससे सार रूप में मानवीय उत्कृष्ट सद्गुणों का जो वर्णन किया गया है, वह ध्यान देने योग्य है। इसमें क्रोध के त्याग और क्षमाशीलता की श्रेष्ठता की बड़ी सराहना की गई है। यद्यपि सामान्य जन यही समझते हैं कि क्रोधी और अहंकारी मनुष्य दूसरों को अपमानित या प्रताड़ित करके अपने

को बड़ा अथवा शक्तिशाली सिद्ध करता है, पर वास्तव में उसका हृदय उद्वेग और द्वेष भाव के कारण घोर अशान्त रहता है। कहा है—

"विद्वान् पुरुष का यदि कोई वाग्वाण चोट पहुंचाए तो भी उसे शान्त रहना चाहिए। दूसरों के क्रोध को सह कर भी जो प्रसन्न रहता है वह क्रोध करने वाले के पुण्य को स्वयं ग्रहण कर लेता है। जो दूसरे से गाली सुन कर भी बदले में गाली नहीं देता, उस क्षमाशील पुरुष की सहनशीलता ही गाली देने वाले को भस्म कर देती है। जो किसी से कठोर वचन सुनकर उससे कोई अप्रिय बात नहीं कहता तथा जो किसी से आहत होकर धैर्य रखता है. मारने वाले को न मारता है, न उसकी हानि की इच्छा करता है. उस महान आत्मा से भेंट करने की देवगण भी इच्छा किया करते हैं।"

आगे चलकर सत्य की प्रशंसा में कहा है कि "जिस प्रकार जहाज के द्वारा समुद्र पार किया जाता है, वैसे ही सत्य स्वर्गलोक तक पहुंचने की सीढ़ी है। जो स्वभाव से सत्यभाषी और धर्मपरायण है देवता उन्हीं की निकट आते हैं। व्यर्थ भाषण की अपेक्षा मौन रहना उत्तम है। सत्य भाषण वाणी की दूसरी विशेषता है। प्रिय बोलना तीसरी और धर्मसम्मत बात कहना चौथी विशेषता है। ऐसे ही विभिन्न कल्याणकारी समुपदेशों से यह गीता भरी है।

क्षमा आदि सद्गुण तथा उनसे मोक्ष की प्राप्ति

क्षमा सहनशीलता या तितिक्षा की पराकाष्ठा है। ब्रह्मज्ञानी एवं मोक्षार्थी क्षमा को धारण करके ही मोक्ष को प्राप्त करता है। यह हंसगीता की मान्यता है। द्रष्टव्य है- "जो दूसरों के द्वारा गाली दी जाने पर भी बदले में गाली नहीं देता उस क्षमाशील मनुष्य का दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देने वाले को भस्म कर देता है व उसके पुण्य को ले लेता है—

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य बिन्दति।। – *हंसगीता-16*

जो दूसरों के द्वारा अपने लिए कड़वी बात कहे जाने पर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता है और किसी के द्वारा चोट खाकर भी धैर्य के कारण बदले में न तो मारने वाले को मारता है और ना उसकी बुराई ही चाहता है। उस महात्मा से मिलने के लिए देवता लालायित रहते हैं—

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात् ।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तुस्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्।।– *हंसगीता-17*

पाप करने वाला अपराधी अवस्था में अपने से बड़ा हो या बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिए ऐसा करने वाला मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है—

पापीयसः क्षेमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति।। – *हंसगीता-18*

यद्यपि मैं सब प्रकार से परिपूर्ण हूँ एवं मुझे कुछ जानना या पाना शेष नहीं है तो भी श्रेष्ठ पुरुषों की उपासना (सत्संग) करता रहता हूँ मुझ पर न तृष्णा का वश चलता है न रोष का। मैं कुछ पाने के लोभ से धर्म का उल्लंघन नहीं करता हूँ और न विषयों की प्राप्ति के लिए कहीं आता जाता हूँ—

सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे न मे विधित्सोत्सहते न रोषः।
न वाप्यहं लिप्समानः परैमि न चैव किञ्चिद् विषयेण यामि।। – *हंसगीता-19*

कोई मुझे शाप दे दे तो भी बदले में उसे शाप नहीं देता हूँ, इंद्रिय-संयम को ही मोक्ष का द्वार मानता हूँ। इस समय तुम लोगों को एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ। सुनो मनुष्ययोनि से बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है-

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कञ्चिद् दमं द्वारं ह्यमृतस्यह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।। – *हंसगीता 20*

इस प्रकार शम, दम, उपरति, तितिक्षा, सत्य, क्षमा, अहिंसा आदि ही मोक्ष की प्राप्ति कराते हैं इसमें कोई संदेह नहीं।

इस गीता के अनुसार प्रथम गुण सत्य का पालन व भाषण है वह मधुर एवं प्रिय होना चाहिए, उसमें किसी की निंदा नहीं होनी चाहिए व कटु एवं अप्रिय वचन नहीं होना चाहिए। यह श्रेष्ठ तप है। इंद्रियसंयम दूसरा गुण है। इसमें मन एवं क्रोध के वेग को रोकना है, तृष्णा व लोभ का परित्याग करना है। चौर्य आदि बुरा कार्य पाप नहीं करना है। जननेन्द्रिय (काम) के वेग को वश में करना है अर्थात् दुर्गुणों का परित्याग करना है जिससे सद्गुण प्रविष्ट हो सकें। तृतीय गुण क्षमा है—अक्रोध, दूसरों के दोषों को नहीं देखना, दया, सरलता, धैर्य, सहनशीलता, संतोष आदि को क्षमाशील ही प्राप्त करता है। चतुर्थ गुण है सद्बुद्धि या ज्ञान या विवेक। इसमें माना जाता है ज्ञानी कभी दुःखी नहीं होता है। ज्ञानी मौनी है। ज्ञानी ही बली है तथा वेदों आदि सद्ग्रन्थों का अनुशीलन करता है जिससे कलहरहित हो जाता है यह गुण आत्मा को प्रकाशमय बनाता है तथा मोक्ष को प्राप्त कराता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है सत्यादि सद्गुणों का पालन तपस्या है। दुर्गुणों का निरास दम या इन्द्रिय निग्रह है सभी दूसरों के प्रति मित्र भाव ही क्षमा है जिसके आने पर मनुष्य पापगामी नहीं बन सकता है। अंतिम सद्बुद्धि हमें आंतरिक अज्ञान से प्रकाश की ओर तथा अमृत्यु से अमृत की ओर ले जाने वाली है। अतः *हंसगीता* के अनुसार इन चार तरह के गुणों के पालन से जीवन सदा सुखी तथा आनन्दमय होता है तथा अन्त में मोक्ष भी सरलता से प्राप्त हो जाता है।

55 गोविन्द नगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302001

पुस्तक समीक्षा

शब्द यात्रा का विश्व कोषात्मक सन्दर्भ ग्रन्थ : *अक्षर यात्रा*

सम्पादक : विद्यावाचस्पति डॉ. गुलाब कोठारी

(राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, मूल्य 1800 रुपये (दो भाग)

संस्कृत आदि भारतीय भाषाओं की वर्णमाला सर्वाधिक वर्णों वाली विश्व की समृद्धतम वर्णमाला है यह तथ्य विश्व में सुविदित है। प्राचीन भाषा हिब्रू में 22 वर्ण हैं, ग्रीक वर्णमाला में 24 वर्ण हैं, विश्वभर में छाई हुई अंग्रेजी भाषा की रोमन वर्णमाला में 26 वर्ण हैं, अरबी में 28 वर्ण हैं, जर्मन में 32, रूसी में 33 यह तथ्य सर्वविदित हैं जबकि हमारे देश में संस्कृत की वर्णमाला में 64, प्राकृत वर्णमाला में 50, आर्षेय वर्णमाला में 97, छांदस वर्णमाला में 187 वर्ण हमारे विद्वानों ने बनाए हैं।

हम सभी जानते हैं कि हमारी भाषाओं में अ से ह तक जो वर्ण हैं उनमें मात्रा आदि लगाकर तथा अन्य वर्ण जोड़ते हए संयुक्ताक्षर बनाने पर जो अक्षर बनते हैं उनकी संख्या अनंत है। इन अक्षरों से जो शब्द बनते हैं वे पूरी तरह असंख्य हैं ही। हजारों वर्षों से हमारे यहाँ इन शब्दों के कोष बनाए जाते रहे हैं। वेदकाल से लेकर आज तक हजारों शब्दकोष तैयार किए गए हैं। परवर्ती काल में उन्हें वर्णक्रमानुसार रखकर बनाया गया जिससे संदर्भ लेने में सुविधा हो। वर्णों व अक्षरों के भी अर्थ बनाए गए हैं। ऐसे अर्थ बताने वाले एकाक्षरी कोष संस्कृत में उपलब्ध हैं।

इस प्रकार अक्षरों की यात्रा हमारे यहाँ हजारों वर्ष पुरानी है। इस यात्रा का एक महनीय पड़ाव हाल ही में प्रकाशित दो भागों वाले विशाल कोषग्रन्थ '*अक्षर यात्रा*' में देख सकते हैं। जो इसी अकारादि क्रम से वर्णों और अक्षरों तथा उनसे बनने वाले शब्दों, उनके अर्थों और संदेशों का गुरु-शिष्य संलाप की शैली में अधिकृत और बहुमूल्य विवरण देती है। भारतीय मनीषा के प्रखर प्रवक्ता, वेदविज्ञान के गहन अध्येता, मूर्धन्य पत्रकार विद्यावाचस्पति, डॉ. गुलाब कोठारी अ आ इ ई से लेकर क्ष त्र ज्ञ तक के वर्णों और अक्षरों से किस प्रकार के विविध शब्द बनते हैं, हमारी भाषाओं में उनके कैसे-कैसे अर्थ और संदेश निकलते हैं इस पर शिष्यों से जो चर्चा करते हैं, उनका क्रमिक निबन्धन इस ग्रन्थ के दो भागों में है जो उनेक ज्ञातव्य तथ्यों को उजागर करता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भिक 36 संलापात्मक पाठों में वर्णमाला का पूरा परिचय कराया गया है जिसमें स्वरों, व्यंजनों आदि के स्वरूप, उच्चारण, स्थान, प्रयत्न आदि का विस्तृत विवरण है। उससे पूर्व तो ग्रन्थ की

भूमिका में शब्द ब्रह्म का शास्त्रीय विवेचन आदि प्रस्तुत है जो गुरु-शिष्य संवाद का अंग नहीं है। ज्योंही गुरु-शिष्य संलाप प्रारम्भ होता है, अ, आ, इ, ई आदि अक्षरों पर विचार होता है और प्रत्येक अक्षर का अर्थ भी स्पष्ट किया जाता है क्योंकि हमारे यहाँ एक अक्षर भी अपना स्वतन्त्र अर्थ देता है। जिसको समझाने के लिए एकाक्षर कोष आदि बहुत पहले से विद्वज्जनों में पढ़े-पढ़ाए जाते रहे हैं। आचार्य पाटल बताते हैं कि ऋ का अर्थ है अटल सत्ता, ग का गणपति आदि, साथ ही चर्चा की जाती है इन अक्षरों से बने शब्दों की जैसे गुण, गुरु, गोपाल ग्रन्थि, ग्राम, ग्रामेश्वर (गाँव का मुखिया) आदि।

इस क्रम से प्रत्येक अक्षर से बनने वाले अनेक विशिष्ट शब्दों की जो चर्चा की जाती है वह व्यापक रूप ले लेती है। 'ण' से बहुत कम शब्द शुरू होते हैं, शब्दों के बीच में या अन्त में ही 'ण' आता है। रण, गण, वर्ण आदि, किन्तु जैन परम्परा में 'णमोकार' सुविदित है इसका भी उल्लेख कर दिया कर दिया जाता है। यह 'ण' से प्रारम्भ होने वाला एकमात्र शब्द है, यह जानकारी अध्येता को हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक अक्षर पर जो चर्चा होती है उसमें उससे बनने वाले विविध शब्दों की सोदाहरण और सप्रमाण जो जानकारी दी जाती है उसका आधार बहुत व्यापक हो जाता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग किन-किन अर्थों में वेदों से लेकर, काव्यों, शास्त्रों, नाटकों आदि तक किया हुआ मिलता है, इसका उल्लेख भी किया गया है और *मेदिनीकोश*, *अमरकोश एकाक्षरी कोश* आदि के संदर्भ से भी शब्द विशेष का अर्थ बनाया गया है। कालिदास के ग्रन्थ का तो स्थान-स्थान पर सन्दर्भ उपलब्ध है। इस अक्षर यात्रा के बहाने विभिन्न अक्षरों से बने अनेक अल्पज्ञान शब्द भी पाठक की जानकारी में आ जाते हैं जो अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। जलगुल्म शब्द कछुए के लिए आता है, तातगु ताऊ के लिए आता है (ताऊ शब्द उसी से बना बताया गया है), बिल्ली को ही प्रलोचना भी कहते हैं, चालाक या लम्पट के लिए सम्पाक शब्द आता है, रसोई के लिए सूदशाला शब्द आता है, ऐसे विवरण अनेक पाठों में देखे जा सकते हैं। विभिन्न प्रमाणिक ग्रन्थों में किस शब्द को किस-किस रूप में किन-किन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। यह विवरण प्रत्येक पाठ में जिस प्रमाणिकता के साथ दिया गया है, वह इस ग्रन्थ को विश्व कोषात्मक सन्दर्भ ग्रन्थ का रूप देता है। प्रथम भाग में अ आ इ ई से लेकर य व र ल तक के शब्दों की चर्चा 307 पाठों में आ जाती है, द्वितीय भाग में श ष स ह क्ष त्र ज्ञ से बनने वाले शब्दों का विस्तृत विवरण 324 पाठों में फैला हुआ है। वर्णक्रमानुसार विशिष्ट शब्दों पर की गई इस गुरु-शिष्य चर्चा को 633 अध्यायों में सम्पादित कर भूमिका सहित प्रकाशित करने के इस प्रेरणाप्रद कार्य से अनेक नए क्षितिज उजागर होंगे ऐसा प्रतीत होता है।

अक्षर यात्रा के नाम से हुई यह शब्द यात्रा बहुमूल्य ज्ञान यात्रा सिद्ध होगी। प्रत्येक प्रकार के पाठक के लिए यह इस विवरण से स्पष्ट हो गया होगा। इस विश्व कोषीय प्रकाशन से अक्षर व शब्द चर्चा के जो नए मार्ग खुले हैं उन पर अन्य ग्रन्थ आएंगे ऐसी आशा है।

समीक्षक : महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री